र्म क्या है ?

पुष्प ५

लेखक
कुँवर श्री नेमीचन्दजी पाटनी

प्रथमावृत्ति
१०००

मूल्य मनन

प्रकाशक:—
श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन
पारमार्थिक ट्रस्ट, मदनगञ्ज
(किशनगढ़)

लिये कोई
मूल्य द्वारा

ीवाल,
पो० म (किशनगढ़)

भूमिका

प्रत्येक जाति में धर्म को सदा से सर्वोपरिस्थान मिलता चला आया है और आगे भी मिलता रहेगा। यह निर्विवाद सत्य है। कारण यही है कि धर्म की निज की ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उससे सदैव सबको प्रतिष्ठा मिली है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने धर्म का यथार्थ स्वरूप चित्रित करने का अथक प्रयास किया है और पूर्ण शक्ति इस बात पर लगाई है कि धर्म शुभाशुभ रूप क्रिया की प्रवृत्ति से ऊपर की चीज है। धर्म निवृत्ति स्वरूप है। राग-द्वेष से परे है। उसी धर्म से अनाकुलत्व लक्षण आत्म सुख की प्राप्ति हो सकती है। धर्म केवल जानने या बोलने की चीज नहीं है। वस्तुतः वह जीवन साधना की वस्तु है।

पापवर्द्धक क्रियाओं के छोड़ने तथा पुण्य वर्द्धक क्रियाओं के करने का वास्तविक ध्येय राग-द्वेष को उत्तरोत्तर कम करना है। जन साधारण इस रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण वास्तविक धर्म लाभ से वंचित रह जाते हैं। और केवल पुण्य-वर्धक शुभ क्रियाओं में ही समय लगा कर अपने धर्म कर्त्तव्य की इति श्री मान लेते हैं। राग-द्वेष को कम नहीं करते हैं।

फलतः रागद्वेष कम न करने के कारण धर्म कार्य में अपना बहु मूल्य समय लगाने वाले धर्म प्रिय भाइयों का जीवन भी अशांति मय ही बना रहता है और प्रायः न्याय मार्ग से विमुख भी। जिसे देख कर दूसरे भाइयों की धर्म से आस्था ही उठ जाती है और वे कोई भी धर्म कार्य करने में अपना समय नष्ट हुआ मान लेते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन-मनन करने से उपरोक्त खटकने वाली कमी की शिकायत दूर होगी। धर्म का सच्चा स्वरूप समझ लेने के बाद धर्म-प्रिय भाइयों को भी धर्म कार्य के अन्दर समय लगाने में अब विलक्षण ही आनन्द आने लगेगा और उन भाइयों की भी शिकायत दूर होगी जो धर्म कार्य करने में अपने समय को नष्ट हुआ मानते हैं। ऐसे कार्य का प्रचार करने से जीवन में सच्ची शांति की झलक मिलेगी और सभी के जीवन में धर्म का स्रोत बह चलेगा।

फिर बताया है कि धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष की सम्पत्ति नहीं है। वस्तुतः धर्म वही हो सकता है जिसे संसार का प्रत्येक प्राणी धारण कर सके। प्रसंगवश जीव का लक्षण आदिक अन्यान्य विषयों का भी प्रतिपादन किया है।

इस पुस्तक की भाषा सरल, हृदय ग्राही, लेखन-शैली युक्ति युक्त, विचार सरणी उत्तम, समयोपयोगी और ग्राह्य है। सम्पूर्ण पुस्तक की ध्वनि साम्प्रदायिकता से कुछ ऊपर रही है।

यद्यपि धर्म के विषय में आधुनिक भाषा में अनेकों पुस्तकें लिखी गई हैं; परंतु कुँवरसाहब ने जिस भाव से लेकर यह पुस्तक लिखी है, वह अपने ढङ्ग की अनूठी, बेजोड़ और प्रथम है।

मेरी निश्चित धारणा है कि लेखक ने आध्यात्मिक रिसर्च करने में पर्याप्त परिश्रम किया है, उनका श्रम और लगन सराहनीय है कि उसने सुन्दर फल प्रस्तुत किया है।

पुस्तक हर पहलू से उपादेय और सप्रमाण है तथा सभी जैनाजैन भाइयों के पठन योग्य है। इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ लेने से प्रत्येक के हृत्पट पर धर्म का यथार्थ चित्र अंकित हुए बिना न रहेगा।

आशा है लेखक इस दिशा में अपनी प्रगति अविच्छिन्न रख कर भविष्य में विशेष रूप से समाज को लाभान्वित करेंगे।

मदनगंज
ता० १—जनवरी १९४७

श्रेयांसकुमार जैन
शास्त्री-न्यायतीर्थ

दो शब्द
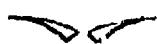
हमारे भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाय, जैसे जैन, बौद्ध, वैष्णव, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी आदि मौजूद हैं और हर एक मतानुयायी अपनी२ श्रद्धा के अनुकूल कोई न कोई कार्य धर्म के नाम पर जरूर ही किया करता है। लेकिन सब ही के कार्य, धर्म की मान्यताओं में बहुत अंतर है, और इन ही कारणों को लेकर हम में अनेक भेद पड़ गये हैं और वे भेद ही मात्र नहीं रह कर आपस में अनैक्यता कराने के भी खास कारण बन बैठे हैं। फलतः धर्म के नांव पर एक दूसरे के प्राणों का घात कर देना भी धर्म कहा जाने लगा है।

वह धर्म की व्याख्या कदापि सही नहीं हो सकती जो दूसरे को दुःख पहुंचानेकी इजाजत देती हो, इसलिये मालूम यह होता है कि धर्म की व्याख्या करने में ही गलती है इसलिये सच्चा धर्म ऐसा होना चाहिये जो सभी सम्प्रदाय वाले यानी हर एक जीव उस धर्म को धारण कर के स्वयं सुखी हो सकें व संसार को सुखी कर सकें—

ऐसा धर्म ही सच्चा धर्म कहला सकेगा और उसही धर्म की हमको परम आवश्यक्ता है संसार शांति चाहता है और धर्म ही

अगर शांति नहीं दे सका तो फिर शांति कहां मिलेगी अतः उस ही धर्म को खोजने की मैंने प्रस्तुत लेख में कोशिश की है।

प्रथम प्रयास होने के कारण प्रस्तुत लेख में अनेक आशय संबंधी, विषय संबंधी एवं भाषा संबंधी त्रुटियां रह जाना सम्भव है क्यों कि यह लेख मैंने अपना समय वीतराग धर्म की ऊहापोह में लगा रहने के लिये ही लिखा था, लेकिन कुछ मित्रों के आग्रह से प्रकाशन के लिये देना पड़ा अतः त्रुटियों के लिये पाठकों से क्षमा याचना है एवं भाषा पर लक्ष्य न देकर भावों को हृदयङ्गम करने की विनीत प्रार्थना है।

अंत में मेरी पूर्व पत्नी स्वर्गीया सौ० लक्ष्मीबाई की दिवंगत आत्मा का मैं अत्यन्त आभारी हूं कि जिसका स्वर्गवास मेरे मुद्रित ज्ञान चक्षु को खोलने में मूल कारण हुआ एवं मेरे परम सुहृदय मित्र गुरु तुल्य बा० ताराचन्द्र जी रपरिया का मेरे ऊपर बहुत उपकार है जिनके संसर्ग से मेरे ज्ञान चक्षु विकसित हो सके।

परम पूज्य न्यायाचार्य्य श्री पं० गणेशप्रसादजी वर्णीजी महाराज तथा माननीय तर्कसूरि सिद्धान्त महोदधि श्रीमान् पं० माणिकचन्दजी साहब न्यायाचार्य ने इस पुस्तक के विषय में अभिमत स्वरूप अपने अमूल्य शब्दों को देकर उत्साहित किया है इसके लिये मैं उनका हार्दिक आभारी हूं।

वीर भगवान से विनीत प्रार्थना है कि संसार में एक बार फिर अध्यात्मवाद का प्रबल प्रचार हो जिससे भौतिकवाद जड़ से नाश होकर संसार में शांति का स्रोत बहने लग जावे।

ॐ शांति, शांति, शांति

निवेदक
नेमीचन्द पाटनी
डाइरेक्टर आफ मैनेजिंग ऐजेन्ट
दी महाराजा किशनगढ़ मिल्स लि०
किशनगढ़

श्रीमान् माननीय तर्कसूरि विद्वच्छिरोमणि सिद्धांत महोदधि पंडित माणिकचन्दजी साहब न्यायाचार्यका

अभिमत

धर्मनिष्ठ सज्जनोत्तम भव्यत्तरण श्रीमान् नेमीचन्दजी पाटनी महोदय ने इस पुस्तक को लिखकर जैन समाजका अनुपम उपकार किया है। इस पुस्तक में जैन शासन के प्रायः सम्पूर्ण विषय समाविष्ट हो गये हैं। बालक- बालिका, स्त्री- पुरुष, विज्ञजन सभी इस पुस्तक का अध्ययन कर जैनधर्म के गम्भीर तत्वों को समझ लेते हैं। आत्मा के गुण और भावों का अच्छा विवेचन किया गया है। मनोयोग लगाकर इस लघु पुस्तक का स्वाध्याय कर लेने मात्र से जैन सिद्धान्त की अनेक तात्विक बातोंका परिज्ञान हो जाता है। मैं ऐसे विज्ञान विचार के अव्यर्थ साधनभूत इस पुस्तक का अभिवादन करता हूं और धर्म प्राण सेठ नेमीचन्दजी को अनेक धन्यवाद समर्पण करता हूं।

माणिकचन्द

और अपने अनुयायियों को इसीलिये धर्म धारण करने का आदेश भी देते हैं।

इन सब बातों से इतना तो निश्चय पूर्वक मानना ही पड़ेगा कि धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसको सभी समाज, सभी मनुष्य, सभी धर्मावलम्बी सर्वोत्कृष्ट वस्तु मानते हैं, और सभी यह भी मानते है कि धर्म धारण करने से सुख की प्राप्ति होती है, जैसे धर्म धारण करने से मुसलमान बहिस्त में पहुंच जाना, वैष्णव वैकुण्ठ वास, जैन मोक्ष में पहुंच जाना, आदि। इस लिये इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता कि धर्म ही सर्वोत्कृष्ट सुख का देने वाला है। सभी सम्प्रदायिकों के शास्त्र इस ही बात का उपदेश देते हैं कि संसार की अच्छी से अच्छी वस्तु को छोड़कर धर्म धारण करो। धर्म से अच्छी संसार में कोई उत्तम वस्तु नहीं है। कोई २ तो यहां तक मानते हैं कि धर्म धारण करने से यह जीव स्वयं परमात्मा बन जाता है। इसलिये यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है, कि धर्म सर्वोत्कृष्ट वस्तु है।

अब जानना है कि धर्म क्या है? लेकिन जब धर्मकी खोज करते हैं तो धर्म की अनेक व्याख्यायें मिलती हैं और सबही आपस में भिन्न भिन्न हैं। सभी सम्प्रदाय अपने धर्म को सच्चा बताते हैं तो क्या सबही सच्चे हैं? जैन अरहंत की भक्ति पूजन आदि को ही धर्म कहते हैं, वैष्णव राम, सीता, शिव, पार्वती, कृष्ण आदि के ही पूजन को ही धर्म मानते हैं, ईसाई ईसा को तथा मुसलमान खुदा को याद करने में ही धर्म मानते हैं। इनमें किस

को सच्चा माना जावे और किन को नहीं ?

इसलिये विचार करके यथार्थ धर्म का स्वरूप जान लेना है कि उपरोक्त परिभाषाओं वाला ही कोई सच्चा धर्म है या सच्चे धर्म की परिभाषा इन सबसे भिन्न ही है। जैसे कि देखते हैं, जैन अरहंत का पूजन करते हैं, वैष्णव नहीं करते। वैष्णव शिव ब्रह्मादि को पूजते हैं, जैन नहीं पूजते। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायोंको समझ लीजिये। इससे यही सिद्ध होता है कि धर्म तो सम्प्रदाय विशेषों के ही धर्म हैं। प्राणी मात्र का धर्म नहीं हुआ। प्राणी मात्र का धर्म वही हो सकता है जो हिन्दू मुसलमान, ईसाई, आर्य समाजी, जैन, बौद्ध, यहां तक कि संसार के जीव मात्र को मान्य हो। यानी प्रत्येक सम्प्रदाय तथा संसार का प्रत्येक प्राणी निर्विवाद पूर्वक जिस धर्म को ग्रहण कर सके। वह ही धर्म सच्चा धर्म, विश्व धर्म प्राणी मात्र का धर्म कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकता है। किसी समाज विशेष का धर्म विश्व धर्म का पद नहीं प्राप्त कर सकता। इस लिये यह निश्चित रूप से मानना होगा कि जो मौजूदा हम लोगों ने धर्म की परिभाषायें मानी हैं और जिन धर्म की परिभाषाओं को लेकर हम आपस में एक दूसरेसे झगड़ते हैं, ईर्षा द्वेष करते हैं, वह सब हमारी भूल है। मौजूदा धर्म जिसको धर्म लेकर चलते हैं यह सब सम्प्रदाय विशेष के धर्म हैं। इसलिये सम्प्रदाय विशेष धर्म को सम्प्रदाय विशेष पालन करे उसमें लड़ने झगड़ने की क्या आवश्यक्ता है ?

इन सब धर्मों भी ऊपर कोई ऐसा धर्म है, जो सब संप्र-

दायों को तथा प्राणी मात्र के लिये मान्य होगा। इसका कारण यही है कि सभी समाज तथा सभी जीव तो धर्मको सर्वोत्कृष्ट फल देने वाला मानते हैं। इससे ही यह बात प्रगट होती है, धर्म ऐसा ही होना चाहिये, जो सब जीवों को अपने २ सम्प्रदाय में रहते हुए भी पालन किये जाने पर सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त करा सक्ता है।

अब हमको उस धर्म की खोज करनी है।

उस धर्म का स्वरूप आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने इस प्रकार किया है।

धर्म का लक्षण

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान् यः धरत्युत्तमे सुखे ॥

यहां आचार्य ने समीचीन यानी सच्चा धर्म का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा की है। उसका स्वरूप यह बताया है कि जो जीव मात्र को संसार दुःख तथा कर्म बन्धन से छुड़ाकर सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त करादे उसी को समीचीन धर्म कहते हैं।

आचार्य द्वारा की गई परिभाषा बड़ी ही उत्तम है। यही परिभाषा सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं जैसे ऊपर बताया जा चुका है कि जैन मोक्ष और वैष्णव वैकुण्ठ वास आदि मानते हैं। क्योंकि सभी की यह मान्यता है कि उत्कृष्ट पद की प्राप्ति धर्म से होती है। लेकिन आचार्य ने कुछ शब्द और मिलाकर इसमें भी विशेषता करदी है। उन्होंने धर्म के साथ समीचीन शब्द लगा करके यह बताया है कि वे सम्प्रदाय विशेष के धर्म का उपदेश

नहीं करके सच्चे समीचीन धर्म को कहेंगे।

वह समीचीन धर्म क्या है ? संसार के प्राणी मात्र अर्थात एकेन्द्री से लगाकर पंचेन्द्री पर्यंत यानी बनस्पती से लगाकर मनुष्य पर्यंत सभी धारण कर सकते हैं, वही एक जीव मात्र का धर्म होने से समीचीन कहला सकता है। इसके भिन्न कोई भी धर्म समीचीन परिभाषा नहीं प्राप्त कर सकता है। आचार्य प्रवर ने समीचीन धर्म क्या है ? इस पर भी इसी श्लोक में खुलासा कर दिया है। उन्होंने बतलाया है कि जो क्रिया यानी कार्य इस जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुखों में पहुंचा देवे और कर्म बन्धन से छुड़ादे उसही क्रिया का नाम धर्म है। इसमें आचार्य ने दुःख और सुख के विशेषण लगाये हैं कि वह दुःख कैसा है, जिससे छूटना है ? वह है संसार रूपी दुःख और जिस सुख को प्राप्त करना है, वह कैसा हो ? उत्तम, यानी जिस की बराबरी का सुख संसारमें कहीं नहीं मिल सके। इस एक ही श्लोक में आचार्य श्री ने धर्म का पूरा स्वरूप कह दिया है। अतः हमको यह ढूंढना आवश्यक है कि वह क्रिया कौन सी होगी जिसके साथ इतने विशेषण हों और जो समीचीन धर्म कहला सके ?

धर्म की खोज

इसकी खोज करनेके लिये हमको निम्न लिखित बातें जाननी होगी, तब ही हम समीचीन धर्म को जान सकेंगे।

१. वे जीव कौन हैं जिन्हें दुःख से छूटकर उत्तमसुखमें पहुंचना है ?

२. संसार में कौन से दुःख हैं जिन्हें जीव को छोड़ना है ?

३. वह उत्तम सुख क्या है जहां जीव को पहुंचना है ?

४. कर्म क्या वस्तु है ? वह क्या बिगाड़ करती है ? इसके बंधन छूटने से क्या लाभ है ?

५. वह कौनसी क्रिया है जो समीचीन धर्म कहला सकती है ?

उपरोक्त पांचों बातें जानने पर ही हम धर्म को जान सकेंगे। सबसे पहले उन जीवों को जान लेना है, जिनके लिये आचार्य ने दिग्दर्शन किया है—

जीव की परिभाषा

जीव की परिभाषा साधारण सी यह है कि जो जीवे अर्थात जिसमें जीवत्व-पना चैतन्य-पना हो वही जीव है यह सब बातें किनमें पाई जाती है उसके लिये हमको प्रारंभ से देखना पड़ेगा कि वह जीव क्या है ? उसके लिये देखिये, मकान खड़ा है किसी से भी पूछो कि मकान जीव है क्या ? कहीं मुरदे का शरीर पड़ा हो किसी बच्चे तक से पूछिये कि इसमें जीव है क्या ? तो सब कहेंगे, नहीं। बच्चा तक बता देगा कि मुरदा शरीर का जीव तो निकल गया है यह तो अजीव है। उसी से पूछिये कि जो इसमें से निकल गया था, वह जब तक इस ही शरीर में मौजूद था तबतक क्या विशेषता थी और अब क्या हो गया ? तो वही कहेगा कि भाई जब तक जीव था तब तक इसमें चैतन्यता थी, इसके शरीर के सब अंग काम करते थे, इसमें श्वांस चलता था। जैसे ही इसमें से जीव निकला इसकी, चैतन्यता तथा श्वांस चलना बन्द हो गया। इस लिये मोटे रूप से जीव की

पहिचान यह हुई कि जिस किसी शक्ति विशेष जिसको आत्मा (Soul) जीव आदि कई नामों से पुकारा जाता है; उस शक्ति विशेष के रहने पर उस शरीर में एक प्रकार की स्फूर्ति, चैतन्यता श्वासोच्छ्वास आजावे उस शक्ति विशेष का नाम जीव है।

जिस शरीर में जीव आया है उस शरीर का नाम जीव नहीं है। उस शरीर को व्यवहार में समझने के लिये उपचार से जीव कहा जाता है। उदाहरणतः बिजली को ही लीजिये, एक बिजली का बल्व कहीं लगा हुआ है, जिस समय वह जलता है, कहते हैं बिजली जल गई। अगर यथार्थ में देखा जाय तो शक्ति विशेष जिसका नाम Power of Electricity अथवा करैण्ट बोला जाता है वह शक्ति बल्व में आकर प्रगट हो गई है तब तो बल्ब जला है? बिजली तो यथार्थ में उस शक्ति विशेष का ही नाम है तो भी उपचार से बल्ब को ही बिजली कहा जाता है। इसी प्रकार इस चैतन्य स्वरूप जीव के इस शरीर में प्राप्त होने पर इस शरीर को भी जीव नाम दे दिया जाता है।

वह जीव कहां २ पर पाये जाते हैं? उसके लिये यह देखना पड़ेगा कि उपरोक्त लक्षण कौन २ में पाया जाता है। इसके जानने के लिये यह जानना पड़ेगा कि वह चैतन्यता तथा श्वासोच्छ्वासादि चिन्ह कौन २ शरीरों में पाये जाते हैं। क्योंकि जिन शरीरों में यह चिन्ह पाये जावेंगे उनही शरीरों में जीव का निवास होगा। और जहांपर जीव का निवास होगा वहां साधारणतः यह चिन्ह भी जरूर मिलेंगे इसलिये जब हम उन चिन्हों को ढूंढने जावेंगे तो

हमको सब जीवों में छानबीन करनी होगी।

प्रथम यह निश्चय कर लेना होगा कि जीव जाति (द्रव्य) की अपेक्षा सब ही जीव एक समान हैं। लेकिन अन्तर है तो सिर्फ बाहर के शरीर को धारण करने से है। चैतन्यता और श्वांसोच्छ्वासादि लक्षण तो एकेन्द्री बनस्पति से लगाकर पंचेन्द्री मनुष्यों तक सब ही जीवों में साक्षात् देखने में आता है।

इसी प्रकार लट, केंचुआ, संख, कीड़ी, मकोड़ा खटमल मच्छर टिड्डा पंतगे आदि सब जीवों में भी साक्षात् चैतन्यता हमको दिखाई देती है जब तक चैतन्यता होती है तभी तक शरीर चलता फिरता, रेंगता, उड़ता हुआ दीखता है। जीव निकल जाने के बाद वही शरीर सभी चेष्टाओं से रहित हो जाता है। अब सिर्फ मात्र ऐकेन्द्री जीव रह जाते हैं जिनमें यह देखना है कि उन में जीव कैसे जाना जावे? इसमें सबसे पहले बनस्पति को लीजिये, इसके लिये बड़े २ पाश्चात्य विद्वानों ने जिन्होंने इस विषय की खोज की है वे अपने प्रत्यक्ष प्रमाणों से यह जान पाये हैं कि वृक्ष भी श्वासोच्छ्वास लेता है तथा उसमें भी जीव है।

१. पाश्चात्य विद्वान प्रत्यक्ष प्रमाण यह देते हैं कि वृक्ष दिन में तो Oxizon देते हैं और Carb dyoxide लेते हैं और रात्रि में Oxizon लेकर Carbo dyoxide निकालते हैं। इसीलिये घरों के आस पास बगीचे लगाना स्वास्थ्य के लिये अच्छा समझा जाता है क्योंकि वृक्ष शुद्ध वायु अपनी स्वासों द्वारा प्रदान करते हैं।

अब विचार करिये श्वासोच्छ्वास का क्या कार्य होता है ? वायु को अन्दर ले जाना और अन्दर की वायु को बाहर निकालना यही कार्य मनुष्य अपनी श्वासोच्छ्वास से करता है वही पेड़ भी करते हैं। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि वृक्ष भी सांस लेते हैं और निकालते हैं। अब प्रश्न चैतन्यता का रहा ?

मनुष्य शरीर की चैतन्यता का विचार करिये। जब तक शरीर को आहार मिलता रहता है तभी तक अच्छी तरह चलता फिरता कार्य करता दिखाई देता है। अगर इसका आहार बन्द कर दिया जावे तो क्रम क्रम से इसकी कार्य-गति में मंदता होनी प्रारंभ हो जाती है और उसका बाह्य चिन्ह शरीर क्षीण होने लग जाता है। यहां तक कि एक दिन वह मरणको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब तक वृक्ष में खाद पानी देते रहते हैं तब तक वह हरा भरा बना रहता है और बढ़ता रहता है। और अगर पानी आदि देना बंद कर देते हैं तो वृक्ष (शरीर) रहते हुये भी उस वृक्ष की चैतन्यता नष्ट होना प्रारंभ हो जाती है यानी वृक्ष मुरझा जाता है फिर भी पानी न देने पर वृक्ष सूख जावेगा लेकिन वृक्ष का शरीर मौजूद रहेगा ही उसे कोई वृक्ष न कह कर सूखा काष्ठ कहेंगे।

उपर्युक्त प्रकार से यह निश्चित हुआ कि वृक्ष के भी हमारे ही समान श्वासोच्छ्वास और चैतन्यता मौजूद है। और जहां चैतन्यता तथा श्वासोच्छ्वास मौजूद है वहां नियम से जीव है। इसलिये यह मानना ही होगा कि वृक्ष में हमारे ही समान जीव है

इसलिये मेरे ही समान सबको सुख दुख का अनुभव भी होता है इस कारण जिस कार्यसे मुझे दुःखका अनुभव होता है उससे दूसरे जीव को भी उतना ही दुःख होता है। इसलिये जो कार्य मुझे बुरा लगे वह जीव मात्र के लिये नहीं करना चाहिये। दूसरे जीव को मारना महा पाप है। कारण मरने में जो दुःख मुझे होता है वैसा ही दूसरे मरने वाले को भी होता है। इसलिये जीव मात्र की रक्षा करना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है।

स्वर्ग और नरक के जीव

अब हमको ऊर्ध्व लोक यानी स्वर्ग लोक और नरक लोक में भी देखना है, जिसमें दोनों ही लोक के जीव चैतन्य गुण सहित हैं। कोई जीव ऐसा नहीं है जिसमें चैतन्यता नहीं हो। कारण चैतन्यता द्वारा ही तो सुख दुख जाना जाता है। अगर चैतन्यता न हो तो दुःख तथा सुख का अनुभव कौन करे ? और अगर दुख का अनुभव न हो तो नरक ही काहे का ? अथवा सुख का अनुभव न हो तो स्वर्ग ही काहे का ?

पाप और पुण्य का फल

यह जीव जब पाप कमाता है, खोटे कार्य करता है, जीवों का बध करता है, किसी को दुःख पहुंचाता है, झूंठ बोलता है, चोरी करता है, वेश्या गमन आदि खोटे कार्य करता है, अत्यन्त तीव्र लोभ आसक्ति रखता है, मायाचारी आदि परिणामों के कारण पाप कर्म यानी खोटे कर्मों का आश्रव करता है। जिसके कारण

नरक लोक को प्राप्त होकर असंख्य वर्षोंतक अत्यन्त तीव्र दुःख भोगता है। दीन दुखी जीवों की दया व रक्षा, सत्य बोलना, शील व्रत पालना, कम परिग्रह रखना, दान देना, आत्म भावों में कषायादिका न होने देना, उत्तम क्षमादि गुणों का धारण करना खोटी क्रियाओं का न करना शुभ बंध का कारण होता है। यही स्वर्ग का मार्ग है। स्वर्ग में जीव असंख्यात वर्ष पर्यंत अपरिमित सुख का अनुभव करता है। तो चैतन्यता बिना यह सब अनुभव कौन करता है? चैतन्यता रहित मुरदे का शरीर आगमें जला देने पर भी सुख दुख का अनुभव नहीं करता है और वही शरीर चैतन्यता सहित तथा जरासी सुई चुभानेका भी तत्काल अनुभव करता है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि चैतन्यता सहित शरीर ही सुख दुख का अनुभव करता है अतः स्वर्ग लोक और नरक लोक के जीव भी चैतन्यता सहित सुख और दुःखका अनुभव करते हैं।

इन सब बातों से निर्णय हुआ कि जीव नरक लोक मनुष्य लोक स्वर्ग लोक यानी तीनों लोकों में जिनको संसार कहा जाता है उसमें पाये जाते हैं। समस्त संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां पर जीव न हों। इसलिये जिस धर्म का आचार्य ने निर्देश किया है, वह धर्म इन समस्त संसार के सम्पूर्ण जीवों का धर्म होना चाहिये। जो संसार हमको दिखाई देता है जिसको हम World के नाम से पुकारते हैं जिसमें कि हमारी दृष्टि से छोटे बड़े अनेक मिलाकर असंख्यात जीव हैं इस के अलावा संसार का बहुत बड़ा हिस्सा जिसमें इससे भी बहुत अधिक संख्या में

जीव हैं उनके भी ग्रहण करने योग्य जो धर्म होगा वही समीचीन धर्म कहला सकता है इस प्रकार यह निर्णय होगया कि समस्त संसार के सम्पूर्ण जीवों को संसार के दुख से छूट कर उत्तम सुख में पहुंचना है।

दुःख का स्वरूप और उससे छूटने का उपाय

अब हमको यह निर्णय करना है कि संसार में वह कौन दुख हैं ? जिनको जीवों को छोड़ना है। इसके लिये हमको दुख की परिभाषा निर्णय करनी होगी। उसके लिये साधारण तया अगर देखेंगे तो संसार में इष्ट यानी इच्छित वस्तु के वियोग तथा अनिष्ट यानी अनिच्छित वस्तु के मिलन से अपने परिणामों में होने वाली अवस्था विशेष को दुःख कहा जाता है। जैसे किसी के पुत्र का मरण हो जाना, स्त्री का वियोग, लक्ष्मी का नाश, व्यापार में हानि, पुत्रका कुपुत्र होना दुराचारिणी स्त्री का होना, दुश्मन को उन्नति आदि अनेक कारण हैं। जिनसे हमारे आत्म परिणामों में एक प्रकार की खलबली सी होती है। जिसको दुख कहते हैं। और जिनके दूर करने में हम दिन रात लगे रहते हैं। यह दुख सभी संसारी प्राणियों में न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि बाहरी वस्तुओं में कोई सुख दुख नहीं है। सुख दुख तो अपने आप ही में है जिसका साक्षात् अनुभव भी हमको होता है। जैसे लक्ष्मी कर्ज करके भी लाई जा सकती है और कमा करके भी लाई जा सकती है। लक्ष्मी

दोनों प्रकार आई, आने में कोई फर्क नहीं पड़ा। परंतु उस लक्ष्मी के आने पर उसके कारण हमारी विचार धारा में खलबलाहट परिणमन रूप आकुलता हो रही है उसी को सुख और दुख कहा जाता है इसलिये यह तो निर्णय हुआ कि बाहरी पदार्थों में सुख दुख नहीं है। सुख दुख अपने में ही है। इसलिये हर एक जीव को अपनी अपनी आकुलता ही दुःख है। यह आकुलता चाहे जिस कारण से हो। पुत्र प्राप्ति से, चाहे मरण से, चाहे लक्ष्मी प्राप्तिसे चाहे नाश से चाहे बैरी के उत्पन्न होने से चाहे मित्र के नाश से आदि किसी भी कारणसे हो वह आकुलता ही दुःख है।

आकुलता पैदा होने का कारण

अब जब हम खलबली (आकुलता) का विश्लेषण करें तो हमको वह खलबली कई रूप में मिलती है और अनुभव में आती है। जैसे लक्ष्मी प्राप्त करने की खलबली हुई, वह लोभ कषाय जनित खल-बली है। और जब वह प्राप्त नहीं होती हो तो हमको क्षोभ होता है जो क्रोध जनित खलबली है। इसी प्रकार प्राप्त हो जाने पर मान रूप खलबली होती है। आदि

यह खलबली हमको क्रोध मान माया (छल कपट) लोभ हास्य रति अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, (ग्लानि) ३ वेद (स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसक वेद) इत्यादि अनेक प्रकार के रूप में अनुभव में आती है। जिसको मोटे रूप में दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे राग (मोह) द्वेष (क्रोध) यानी जो भी आकुलता पैदा

होती है वह किसी वस्तु के अच्छी लगने से राग रूप, तथा दूसरी वस्तु अच्छी नहीं लगती उसके लिये द्वेष रूप हुआ करती है। एक ही समय जब एक वस्तु हमको अच्छी लग रही है तो अगर हम विचार करेंगे तो मानना ही होगा कि उसी समय हमको कोई वस्तु बुरी भी लग रही है। अगर कोई वस्तु बुरी नहीं लग रही होती तो पहले वाली वस्तुको अच्छी कैसे कह सकते हैं बिना तुलनाकिए किसी भी वस्तु को न अच्छा ही कहा जा सकता है और न बुरा ही। जैसे कोई कपड़ा खरीदने जाता है उसको दुकानदार अनेक कपड़े दिखाता है। उसमें खरीददार एक कपड़े को पसन्दकर लेता है, तो उसी समय दूसरे कपड़े पसन्द न आने के कारण स्वतः नापसन्द हो जाते हैं। इससे यह मानना पड़ेगा कि राग द्वेष दोनों साथ साथ हैं, जहां राग है वहां द्वेष है, जहां द्वेष है वहां राग भी अवश्य है। यह समस्त संसार के जीवोंमें यह खलबली आकुलता राग और द्वेष दो ही रूप में मौजूद है।

संसार का कोई भी जीव इस खलबली से बचा हुआ नहीं है। जैसे कहा गया है कि:—

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहीं न सुख संसारमें, सब जग देख्यो छान॥

इच्छा ही आकुलता की जननी है

अब यहां शंका हो सकती है कि खलबलीके नष्ट कर देने पर सुख होगा? उसका उत्तर है कि अगर संसारमें एक ही प्रकारकी खलबली होती तो उसकी पूर्तिसे खलबली नष्ट हो जाती। लेकिन

यहां तो नष्ट होने के पहले ही एक की जगह अनेक प्रकार की खलबली आ उपस्थित हो जाती हैं। फिर तो हमें देखना चाहिये कि आकुलताएँ या खलबलियें क्यों पैदा होती हैं? विचार करने पर ज्ञात होता है कि इच्छा ही इनकी जननी है, क्योंकि इच्छा के बिना आकुलता हो ही नहीं सकती है। और जब इच्छाओं की संख्या देखेंगे तो हमको सहज ही पता लग जायगा कि कैसे इन खलबलियों का अन्त होगा? कारण जैसे मनुष्य भोजन करने बैठा, उसके सामने अलग २ दस प्रकार के व्यंजन मौजूद हैं, उस समय उसकी इच्छा दसों को ही खाने के लिये है लेकिन वह दसों का स्वाद एक साथ नहीं ले सकता है। इसलिये एक समय एक को खाने से नौकी इच्छा तो पहले ही बाकी रह जाती है। और जब एक को खा लेता है तो उसका स्वाद उत्तम लगा तो उसी को फिर खाने की इच्छा पैदा होगई तो फिर दस की इच्छायें मौजूद रहीं। इसि बीचमें कहीं नमकीन आदि कोई पदार्थ की इच्छा पैदा हो गई तो फिर १० की जगह बारह तथा पन्द्रह होते देर नहीं लगती। तो कहिये उन आकुलताओं का अन्त कैसे आवे?

यह तो एक भोजनका ही विषय रहा, उसी भोजन करते समय ही उस जीव को लक्ष्मी पाने की, स्त्री पाने की, उत्तम वस्त्र पाने की,पुत्र पाने की,सुगन्ध की. गायन सुनने आदि की अनेक इच्छायें हैं। जब सबको देखेंगे तो हमको यह निर्णय करना पड़ेगा कि संसारी जीव इच्छाओं का समुद्र है। और इच्छाओं के कारण

आकुलताओं का भी समुद्र है और आकुलता ही दुख है जैसा ऊपर कहा गया है कि संसारी जीव दुखों का अटूट खजाना है। कितना भी निकालो संसार में दुखों का अन्त नहीं हो सकता है।

सुख और दुख का वर्णन

वास्तव में देखा जावे तो सुख और दुख दोनों कोई वस्तु नहीं हैं। यह तो आत्माके भाव विशेष का नाम करण है। जिस प्रकार शिमला में रहने वालों ने ८० डिगरी गर्मी को normal कहकर उससे कम या ज्यादा को दुख नाम दे रखा है। करांची वालों ने १०० डिगरी को normal बना लिया है। अगर देखा जावे तो न तो १०० डिगरी ही सुख है और न १०० डिगरी दुख ही है। लेकिन अलग २ जगहों के मनुष्यों ने उसमें सुख और दुख की कल्पना करली है। अगर १०० डिगरी ही सुख होता तो शिमला वालों को क्यों दुख रूप अनुभव होता?

इसलिये हमने अपने २ परिणामों की खलबली को अपने २ दायरे के अनुसार सुखरूप और दुखरूप कल्पना करके नाम करण दे दिया है। जैसे खादी का कुरता सर्दी में गरीब को महान सुख करने वाला तो अमीर को वही कुरता पहना दिया जावे तो वह उसी में दुख का अनुभव करता है। इस लिये यह तो हमारे मन की कल्पना है। अगर हम अपनी कल्पना का दायरा बढ़ालें यानी जिन कारणों में हम दुख की कल्पना कर लेते हैं, उनमें दुख की कल्पना नहीं करें तो सहज ही दुःख नहीं रहे और सुख

ही सुख होवे। लेकिन हम इन बाह्य वस्तुओं में अपनापन मान करके ही अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प व आकुलतायें स्वयं पैदा कर लेते हैं।

कुछ बिना किये आकुलतायें या विकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं। हम स्वयं बलात्कार पैदा करते हैं, जैसे हमारे पुत्र नहीं हुआ तो पुत्र न होने से हम स्वयं एक प्रकार की दुख रूप कल्पना करते हैं कि पुत्र नहीं हुआ बड़ा दुःख है, उसका निराकरण करने के लिये पुत्र गोद (दत्तक) लाते हैं। दत्तक पुत्र का पालन पोषण आदि का सारा भार लेकर उसके कारण अनेक आकुलतायें पैदा करते हैं। यह भी बलात्कार ही है। चूंकि हमने उसमें अपने पन की कल्पना करके अपने ऊपर उसके सब भार वहन की कल्पना करली है। इसलिये बलात्कार आकुलतायें करते हैं। अगर यह कहा जावे कि वह व्यक्ति विशेष पुत्र ही आकुलता का कारण है तो जब तक तुमने दत्तक नहीं लिया था तब तक क्यों नहीं आकुलता कराता था? जब तुमने उसमें अपनापन स्थापन कर दिया तभी से वह तुम्हारी आकुलता का कारण बना। आकुलता तो स्वयं तुमने ही बलात्कार पैदा की। अगर तुम गोद लानेके बाद भी अपने परिणाम वैसे ही करलो, जो गोद लानेके पहले थे अर्थात् अपनेपन का भाव निकाल लो तो वह दुःख रूप आकुलता जो तुमको होती है वह होना बन्द हो जायगी।

इसलिये <u>संसार की वस्तुओं में अपनेपन की भावना है, वही आकुलता उत्पन्न करने का कारण है। इसलिये संसार की सब</u>

वस्तुओंमें अपनेपन के भाव निकाल कर सन्तोष धारण करना, सुख के पास पहुँचने का मार्ग है। जिन वस्तुओं में हमने दुखरूप कल्पना कर रखी है उनमें अगर हम दुख की कल्पना नहीं करें तो सहज ही हमको स्वाभाविक आनन्द सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

सुख की परिभाषा।

सुख क्या है? यह जानना भी आवश्यक है। सुख आत्मा का निज का स्वभाव है क्योंकि आत्मा सदा सुखरूप निराकुलता (बिना खलबली) शान्त अवस्था में रहता है। हम ही उसकी शान्त अवस्था भंग कर देते हैं, चूंकि आत्मा का स्वभाव शान्त है इसलिये वह खलबली कुछ समय की ही होती है। फिर आत्मा स्वयं शान्त अवस्था में आजाता है। जैसे किसी आदमी ने किसी को गाली दी, तो गाली के कारण उस मनुष्य की शान्त आत्मा में क्रोध जनित खलबली हुई। लेकिन ज्योंही गाली देनेवाले को दण्ड मिला, उसकी खलबली शान्त हो गई। आत्मा शान्त होकर स्वभाव में आगया, चूंकि वह खलबली आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये ज्यादा नहीं ठहर सकी, शान्ति उसका स्वभाव है जो २४ घन्टे रह सकता है। क्रोध सीमित समय से ज्यादा नहीं ठहर सकता है। जिस प्रकार पानी का स्वभाव शीतलता है, उसको गर्म कर दिया जावे लेकिन आग का प्रभाव दूर हो जाने पर जल स्वतः शीतल हो जावेगा, क्योंकि उसका स्वभाव शीतल है। शीतलता चाहे जितने समय तक रह सकेगी। इसलिये सुख की परिभाषा सहजही में निर्णीत हो जाती है कि आत्म परिणामों में जो

एक प्रकार की खलबली आकुलता होती है वह नष्ट होकर आत्मा निज स्वभाव में, शान्त अवस्था में आजावे, उसी को सुख कहेंगे।

केवल बाह्य वस्तुओं का त्याग सुख नहीं कहला सकता।

उस सुख का बाह्य वस्तुओं के मिलने से या नष्ट होनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। बाह्य वस्तुयें तो उसके परिणामों को अशान्त, आकुलता का कारण होती हैं। इसलिये अपने परिणामों की आकुलता मिटाने के लिये बाह्य वस्तुओं का सम्बन्ध भी त्यागना आवश्यक है। अगर कोई बाह्य वस्तुओं का त्याग करदे, अंतरंग में उनके लाभ का लोभ बनाये रखे तो उस त्याग से कोई लाभ नहीं हो सकता है। त्याग तो इसीलिये किया जाता है कि वस्तुओं के सम्बन्ध अपनी आत्मा में रागभाव रखते थे अर्थात् आकुलता पैदा करते थे। उन वस्तुओं के त्याग कर देने से आकुलता कम होगी, इसीलिये त्याग किया भी था, यदि त्याग करके भी राग भाव बना रहा तो उद्देश्य की सिद्धि नहीं हुई, फिर उस त्याग से क्या लाभ हो सकता है?

सुख का जहां तक सम्बन्ध है वह बाह्य वस्तुओं के आधीन नहीं है, अतः उनसे दूर है। जिस समय भी आत्मा में निराकुलता है, (कोई प्रकार की खलबलाहट नहीं है) उसी समय आत्मा परम सुखी है। लेकिन वह निराकुलता संसार में क्षणिक रूप रहती है जैसा ऊपर लिखा जा चुका है। किसी न किसी प्रकार की आकुलता हर समय घेरे रहती है। अतः इस क्षणिक निरा-

कुलता को सुख नहीं कहा जा सकता, केवल वेदना का प्रतीकार मात्र कहा जा सकता है। अतः जो कभी नष्ट नहीं हो यानी आत्मा सर्वदा के लिये आकुलता रहित हो जावे, ऐसा सुख ही उत्तम सुख कहलावेगा। कहा भी है कि "आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये"। यथार्थ में देखा जावे तो रोग का उत्पन्न करना, उसका इलाज कराना, तब नीरोग होने की अपेक्षा तो वही परम सुखी कहलावेगा कि जिसको रोग ही पैदा नहीं हुआ हो अर्थात् प्रथम आत्मा में किसी कारण से आकुलता पैदा करना फिर उसका निराकरण करने की अपेक्षा तो यह ज्यादा सुन्दर रहेगा कि ऐसी अवस्था प्राप्त की जावे जहां आकुलता उत्पन्न ही न हो सके और सर्वदा के लिये आकुलता नष्ट हो जावे। ऐसी अवस्था को ही उत्तम सुख की अवस्था कह सकते हैं। जैसे मान लीजिये किसी को भूख लगी, उसने भोजनादि क्रिया का कष्ट उठाकर उसकी पूर्ति की, उसे पाकर भोजन सम्बन्धी आकुलता मिटकर निराकुलता हुई। वह निराकुलता भूख मेटने के प्रतीकार स्वरूप है उसका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता, कुछ घण्टों बाद फिर भूख आकर सताने लगती है जिसके कारण उससे होने वाले अनेक कष्ट फिर उठाने पड़ते हैं। यदि उसकी भूख की आकुलता मिट जावे तो उस सम्बन्धी सभी कष्ट दूर हो जावें और अपने को सुखी अनुभव करे। यह तो केवल भूख सम्बन्धी आकुलता की बात है, इसी प्रकार संसार की अनेक आकुलतायें जिसके उत्पन्न नहीं हो वह कितना सुखी हो सकता है, इससे ही अनुमान लगाइये। इसलिये

हमको ऐसा धर्म चाहिये जो हम सब जीवों को ऐसी अक्षय निराकुलता अवस्था प्राप्त करा देवे।

सुख का बाधक कारण कौन है ?

अब हमको यह विचारना है कि संसार के सब जीव तो दुखोंसे छूटकर सुखी होना चाहते हैं, फिर सुखी क्यों नहीं हो जाते ? उनको रोकने वाली क्या वस्तु है ? जो उस अवस्था को प्राप्त नहीं होने देती। कारण जब तक किसी कार्य के सिद्ध करने के लिये उसमें आने वाली सम्भावित कठिनाइयों को नहीं जाना जावेगा, तब तक उस कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे किसी को हिमालय पहाड़ की चोटी पर चढ़ना है, किसी प्रकार मार्ग भी जान लिया है, लेकिन उसको यह नहीं मालूम कि मार्गमें बर्फ जमी रहती है, पैदल चलना होता है, ठंड पड़ती है, खाने को नहीं मिलता है आदि कठिनाई ज्ञात नहीं होगी तो वह मार्ग को पार नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार हमको भी उत्तम सुख प्राप्त करने में जो बाधक कारण हैं उनको ढूंढकर दूर किये बिना साध्य अवस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उत्तम सुख के प्राप्त करनेमें सब से प्रबल कारण, बाधा पहुंचाने वाला कर्म है।

कर्म का वर्णन।

हमको यह जानना आवश्यक है कि वह कर्म क्या है और उन से हमारा किस प्रकार बिगाड़ होता है ?

"क्रियते इति कर्म" ऐसे व्याकरण शास्त्र के अनुसार कर्म शब्द की व्युत्पत्ति है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कर्त्ता की

क्रिया के फलको, कर्म कहते हैं। जैसे अज्ञानी आत्मा कर्ता है और राग द्वेषमयी परिणाम ही उस आत्मा की क्रिया है, इस क्रिया का ही जो फल होता है वही कर्म है।

इस क्रिया का फल क्या है?

आत्माने राग द्वेषमय परिणाम किये, उन परिणामों का निमित्त पाकर जिन पुद्गल परमाणुओं ने कर्मरूप परिणामन किया उन परमाणुओं का नाम ही कर्म है, जो आत्मा के साथ ही लगे रहते हैं और समय पर अपना रंग दिखाने लगते हैं। यह सीधी और सरल कर्म की परिभाषा है।

अब इसे दूसरी प्रकार समझिये, क्रिया को देखकर भी कर्ता का निर्णय किया जाता है। जैसे न्यायाधीश की गद्दी पर बैठे अधिकारी को न्याय की क्रिया करते देखकर ही उसे जज कहा जाता है। गायों को चराते हुए देखकर ग्वाला मान लिया जाता है, सिंह की दहाड़ सुनकर जाना जाता है कि सिंह है। इसी प्रकार हर एक के कार्य देखकर कर्ता का निर्णय होता है। यहां कर्मोंका कार्य प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। जैसे कि एक साथ ही एक ही माता के उदरस्थल से दो भाई जन्म ग्रहण करते हैं। लेकिन कर्म की गति से एक निर्धन, एक धनवान, एक विद्वान, एक मूर्ख, एक सुन्दर एक कुरूप, एक बलवान एक निर्बल, तो इनका अन्तर करने वाला कोई अवश्य ही होना चाहिये।

ईश्वर कर्ता नहीं है।

चाहे उसको किसी नाम से पुकारिये, संस्कार कहिये, कर्म

कहिये, चाहे जो कुछ भी कहिये, यही कर्म है। और इनका अस्तित्व निश्चय ही मानना होगा, यहां कोई शंका करे कि कर्म कोई वस्तु नहीं है, बल्कि यह सब कुछ ईश्वर ही करता है, तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर फर्क क्यों डालता है? ईश्वरको मोह ममत्व नहीं है, ऐसा सभी मानते हैं तो ईश्वर एक को धनी, एक को निर्धन किसी को निर्बल किसी को सबल, आदि २ अनेक तरह क्यों बनाता है? अगर यहां यह कहा जावे कि ईश्वर राग-द्वेष रखता है तो यह बात तो मानी नहीं जा सकती, कारण, जो कोई ईश्वर है वह रागी-द्वेपी कदापि नहीं हो सकता है, जो रागी-द्वेपी है वह ईश्वर कदापि नहीं कहला सकता है। अगर ईश्वर भी राग-द्वेष रखे तो ईश्वर और हममें अन्तर ही क्या रहा? फिर ईश्वर तो संसार के एकेन्द्री वनस्पती से लगाकर पंचेन्द्री तक सबका रक्षक माना जाता है। तो वह एक दूसरे को ऐसा बनावे जो दूसरों को मार २ कर खावे और वह भी ईश्वर की आज्ञा से ही मारे खावे तो ईश्वर में रक्षक पना कहां रहा? और फिर भी यदि ऐसा ही कहा जावेगा तो मानना होगा कि ईश्वर की ही आज्ञा से जर्मनी के तानाशाह हिटलर ने इतना भयानक महा युद्ध प्रारम्भ करके करोड़ों मानवों का बलिदान कराया, जो कि अक्षम्य अपराध है, लेकिन यह कभी संभव नहीं हो सकता, अतः कहना होगा कि ईश्वर को न तो किसी से राग है न किसी से द्वेष। इसलिये न ईश्वर इनका कराने वाला है और न

रोकने वाला, यह जीव स्वयं जैसे अच्छे बुरे कर्म करता है फल भी स्वयं वैसा ही भोगता है।

अब यहां यह कहा जावे कि ईश्वर आज्ञा नहीं देता, वरन् जीव जैसे कार्य करता है उसके अनुसार फल देने वाला ईश्वर है। यानी कार्य स्वेच्छा से जीव करता है और जैसा अच्छा या बुरा करता है उसका उसको वैसा ही फल ईश्वर द्वारा दिया जाता है। तो यह बात भी प्रत्यक्ष और अनुमान से ठीक नहीं बैठती है। कारण अभी हम साधारण रूप में देखेंगे तो वर्तमान में वृटिश सरकार ने हिन्दुस्तान की प्रजा को जो करीब ४५ से ४७ करोड़ तक मानी जाती है, उसके खाने-पहनने का प्रबन्ध करने के लिये स्थान २ पर आफिस खोले हैं। सारे भारत के इस विभाग में काम करने वाले देखे जाव तो अनुमानतः १ लाख से ऊपर लोग होंगे तो भी कितने ही लोग नंगे रहते और भूखे मरते देखे जा रहे हैं, बंगाल का उदाहरण हमारी आंखों के सामने है। सब व्यवस्था के रहते हुए भी करीब ३५ लाख आदमी भूखों मर गये इसी प्रकार नंगे लोगों के जगह २ होने वाले प्रदर्शन भी इसी बातको सूचित कर रहे हैं। अतः इससे हम यह बात स्पष्टतया जान सकते हैं कि करीब ४७ करोड़ लोगोंकी मात्र खाने तथा कपड़ेकी व्यवस्था करने के लिये जब इतने मनुष्यों की आवश्यकता हुई तो समस्त संसार के सम्पूर्ण जीव जिसमें ऐकेन्द्री से लेकर पंचेन्द्री मनुष्य तक शामिल हैं, व नरक लोक, स्वर्ग लोक के भी जीव शामिल हैं उन सब जीवों का मिनट मिनट के परिणामों का

wireless जहां से संचालित हो वहां कैसे व्यवस्था हो सकेगी ? अगर संसार के सब जीवों को भी देख डालें तो किसी भी क्षण के परिणाम किसी एक जीव के दूसरे जीव से नहीं मिलेंगे तो असंख्य जीवों के एक २ क्षणवर्ती परिणामों का संचालन केवल एक ईश्वर द्वारा कैसे संभव है ? अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों से बाधित है ।

जीव अपने कर्मों का फल आप ही पाता है ।

अगर यहां यह कहें कि ईश्वर सब को अपने २ कर्मों का फल दे देता है फिर जीव अपने आप भोगते हैं । तो ईश्वर का कार्य मात्र पोष्ट आफिस के सदृश हो जायगा । भोगने के लिये स्वयं जीव को ही भोगना पड़ा तो उसमें ईश्वर के आश्रय बिना भी भोग सकने में कोई बाधा नहीं आती । कारण ईश्वर, जैसे कर्म उसने किये हैं वैसे ही भोगने को देता है कम ज्यादा तो कर नहीं सकता ऐसी हालत में ईश्वर का कोई कार्य रह नहीं जाता । इन सब बातोंसे मानना पड़ेगा कि कर्मोंको जीव स्वयं ही तो अपने २ परिणामों के अनुसार करता है और स्वयं ही उसके अनुसार फल भोगता है ।

ईश्वर न तो रागी है, न द्वेषी है, वीतरागी है । तथा निराकुलरूप आनन्दरूप अविनाशी सुखका भोक्ता है । कामादिक को जीत चुका, संसार के सब पदार्थों में निस्पृहरूप ज्ञान के द्वारा व्याप्त है, यानी जिसके ज्ञान में संसारके सब पदार्थ झलक रहे हैं । और फिर भी वीतरागी होने से किसी में रागी-द्वेषी नहीं है । ऐसा

ईश्वर है और ऐसी अवस्था ही हमको प्राप्त करनी है। उस अवस्था की प्राप्ति जभी होगी जब इन कर्मों से छुटकारा होगा। और जो इनसे छुटकारा करा देने वाली क्रिया है उसी का नाम धर्म है।

उपर्युक्त लिखित विचारोंके बाद यह मानना ही होगा कि यह जीव (आत्मा) स्वयं अपने परिणाम जैसे २ जिस क्षण करताहै उन परिणामों के निमित्त से उसी क्षण उसी प्रकार का संस्कार आत्मा के पास रहने वाले कर्म परमाणुओं पर पड़ता है। जो कि अपने समय पर उदय आकर आत्मा को उसी प्रकार के परिणाम करानेमें कारण पड़ते हैं।

कर्मबन्ध का वर्णन।

अब यह जानना है कि ये कर्म किस प्रकार इस आत्मा से बँधते हैं और किस प्रकार उदय में आते हैं, जब एक वस्तु से दूसरी वस्तु का सम्बन्ध होता है तब उस मिलने वाली वस्तु की साधारणतया चार अवस्थाऐं हुआ करती है।

जैसे एक चिकने घड़े को बाहर मैदान में रख दिया जावे और हवा चलती हो तो हवा के साथ मट्टी के परमाणु रजकण उड़ २ कर घड़े पर चिपक जाते हैं। और चिपकने के बाद वे रजकण नहीं कहे जाकर मैल कहलाने लगते हैं तथा घड़ेके साथ ऐसे सम्बन्धित हो जाते हैं कि अलग होते हुये भी बिना पुरुषार्थ द्वारा अलग करे अलग नहीं हो सकते तथा उस चिकनाई में जितनी तीव्रता होगी उतने ही ज्यादा समय तक वे घड़े के साथ

चिपटे रहेंगे तथा कितने ज्यादा मैले कोयले के समान हैं या साधारण मैले हैं, इस प्रकार चार अवस्थाएं देखने में आती हैं उसी प्रकार आत्मा के साथ भी कर्म का सम्बन्ध होता है यह खास समझ लेने की चीज है कि आत्मा तो चैतन्यवान् अलग द्रव्य है और ये कर्म होने योग्य पुद्गल जड़ परमाणु अलग द्रव्य हैं, जिनको कार्माण वर्गणाऐं कहा जाता है, ये सारे संसार में ठसा ठस भरे हुये हैं, दोनों की जाति में अत्यन्त भेद है, एक चेतन, दूसरा अचेतन, लेकिन जब मन वचन काय की क्रिया होने पर आत्मप्रदेशों में जो एक प्रकार का कंप यानी हलन चलन हुई उसके कारण ये कार्माण वर्गणाऐं उस कंप का निमित्त पाकर आत्मा के साथ सम्बन्ध करती हैं और उस समय यह आत्मा अज्ञान के कारण अपने परिणाम रागद्वेष कषाय युक्त करता हुवा होता है, उन्हीं परिणामों का निमित्त पाकर वे कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और जैसे २ कार्य आत्मा करती हुई होती है (नीचे खुलासा आवेगा) उसी माफक उन कर्मों का नाम पड़ जाता है इसको प्रकृति बन्ध कहते हैं तथा आये हुये कर्म परमाणू घड़े के दृष्टान्तवत् आत्मा के साथ सम्बन्ध कर एकमेक से हो जाते हैं, इसको प्रदेश बन्ध कहते हैं तथा आत्म परिणामों में जितनी राग द्वेष कषायों की चिकनाई होगी उतने ही समय तक आत्मा के साथ बन्धे रहने की मर्यादा बन्ध जाती है इसको स्थिति बन्ध कहते हैं तथा जितनी तीव्रता और मंदता उस कषाय की होगी, उतनी ही तीव्र अथवा मंद जाति की

फलदान शक्ति उनमें पड़ेगी, उसही को अनुभाग बंध कहा जाता है। उपरोक्त प्रकार से कर्म का आत्मा से संबन्ध होता है और जितनी स्थिति को लेकर कर्म बँधता है उसमें से कुछ काल के बाद वह उदय में आकर जब तक आत्मा के साथ रहता है तब तक आत्माको सुखी दुःखी करता रहता है इसलिये कर्मका सम्बन्ध ही आत्मा को दुःखी यानी संसार में घुमानेवाला है। इसमें भी इतना विशेष समझना चाहिये कि प्रकृति बंध व प्रदेशबंध तो मन वचन काय की क्रिया से आत्मप्रदेशों में सकंपन होने से होता है लेकिन बिना स्थिती व अनुभाग के उसका कोई मूल्य नहीं, जैसे उस चिकने घड़े पर अगर चिकनाई नहीं होवे तो धूल कितनी भी आकर उस पर आकर लगो, कोई घड़े का कुछ बिगाड़ नहीं सकता उसी प्रकार आत्मा की चिकनाई रूप, ये रागद्वेष आदि कषायें ही स्थिति और अनुभाग बन्ध करती हैं अतः ये कषायें ही मूल दुःख का कारण है।

यह theory बिल्कुल वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध होती है। और प्रत्यक्ष अनुमान से ठीक जँचती है।

इसके बाद यह देखना हैकि उनके कार्य क्या २ हैं? तो उसके लिये संसार में जिन २ कार्यों में हम कमी बेशी देखें, इसी कमी बेशी की जितनी अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं, उतने ही उतने प्रकारके जीवों के क्षण प्रतिक्षण परिणाम होते हैं उतनेही उतने प्रकार के समय २में कर्मोंका आत्मामें बंध होता है। इसलिये सब जीव संसार में जहां कहीं भी हैं उनके परिणाम आपसमें एक दूसरे से मिलते

नहीं हैं। जब परिणाम एक से नहीं मिलते तो बंध भी तो उन्हीं परिणामों के अनुसार होते हैं इसलिये बन्ध भी एक से नहीं होते तो जब वह कर्म उदय में आवेंगे तो उस समय भी आपस में परिणाम एकसे नहीं हो सकते हैं। इसलिये संसार में जितने तरह के परिणाम हैं उतनी ही तरह की कर्मों की जातियां हैं।

कर्मों के भेद।

लेकिन मोटेरूप से आठ भेद किये जाते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म की परिभाषा।

जैसे १. ज्ञानावरणीय (ज्ञान को कम अधिक करनेवाला) किसी के ज्ञान प्राप्ति में बाधक होने से, दूसरे के ज्ञान के प्रति ईर्ष्या करने से, अपने ज्ञान का उपयोग दूसरे जीवों को अहित पहुंचाने आदि में करने के समय इस कर्म का बन्ध होता है। जो अपने उदय के समय में ज्ञान के विकसित होने में बाधक होगा।

दर्शनावरणीय कर्म का वर्णन।

२. दर्शनावरणी देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति, सूँघने स्वाद लेने की शक्ति को कम करनेवाला, नींद आदि लाने वाला यह कर्म है। और उपरोक्त कर्मों को होते समय बाधा डालना,नष्ट कर देना आदि २ कारणों से उस जाति की शक्ति रोकने वाला कर्म बन्ध हो जाता है, उसे दर्शनावरणी कहते हैं।

मोहनीय कर्म का स्वरूप ।

३. A सच्चे धर्म प्रचार रोकने से तथा कुमार्ग के प्रचार से, जीवों के बध आदि में, धर्म बताने आदिसे ऐसा कर्म बंधता है जो इसको सत्य मार्ग का ज्ञान नहीं होने देता । जिससे संसार पार होने का मार्ग ही नहीं मिलता , यह कर्म ही सबसे ज्यादा भयानक है इसे A दर्शन मोहनीय कहते हैं । B चारित्र मोहनीय-क्रोध करने से, मान करने से, छल कपट करने से, तीव्र लोभ रूप परिणाम रखने से, अर्थात् क्रोध मान माया लोभादि से जो कर्म बन्ध होता है । उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं ।

अन्तराय कर्म का विवेचन ।

४. अन्तराय कर्म—यह कर्म दान की शक्ति, धनादि के लाभ की शक्ति, भोग—उपभोग के पदार्थों को प्राप्त करने तथा भोगने की शक्ति और अपनी शक्तिको कम तथा ज्यादा करनेवाला कर्म है । अपनी शक्ति बल धनादि का प्रयोग दूसरे जीवों के दुख पहुंचाने मारने आदि कार्यों में करना, दूसरे की शक्ति देख कर डाह ईर्ष्या करना, बाधा डालना, आदि कारणों से इस जाति के कर्म बँधते हैं ।

उपरोक्त चारों कर्म स्वयं आत्माकी शक्तिको घातने वाले हैं।

निम्नलिखित चार कर्मों का सम्बन्ध ज्यादातर शरीरादि बाह्य पदार्थों से है ।

वेदनीय कर्म का स्वरूप

जैसे ६. वेदनीय कर्म—बाह्य शारीरिक रोग आदि होना, स्त्री पुत्रादि का नाश होना, इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग की सामिग्री प्राप्त होना, असाता वेदनीय कहलाता है। यह कर्म दूसरे जीवों को दुखी करना मारना, बांधना दुःखी देखकर हर्ष करना स्वयं तथा दूसरों को शोकित करना, दुखी होना आदि से बँधता है। तथा इससे उल्टे परिणाम यानी जीवों की रक्षा करना तथा सुखी देखने के परिणाम वैसे ही कार्य करना आदि साता वेदनीय कर्म बन्ध होने का कारण है। जिससे सुखरूप सामग्री मिलती है।

आयुकर्म की परिभाषा।

६. आयु—इससे देव, मनुष्य तिर्यंच (पशु पक्षी कीड़े मकोड़) आदि तथा नारकी इन चार पर्यायों को धारण करना पड़ता है। मायाचारी आदि से तिर्यंच, बहुत आरम्भ परिग्रह रखने से रौद्र परिणामों से दूसरे को दुखी करने तथा दुखी देखकर हर्ष करने आदि से नरक आयु, तथा थोड़ा आरम्भ परिग्रह रखने से तथा स्वभाव में कोमलता आदि से मनुष्य आयु और परोपकार भावना सब को सुखी देखने की भावना तथा इन्द्रियों और मनको बश में रखने से तपस्या आदि शुभ कर्मों से देव आयु का बन्ध होता है।

नाम कर्म का वर्णन।

७. नाम कर्म—इस कर्म का कार्य विधाता का है, यानी

जीव जैसी आयु बांधता है, उसके अनुसार जिस प्रकार के शरीर को धारण करता है, उसके शरीर आदि की रचना का कार्य इस कर्म का होता है। जैसे शुभ अशुभ परिणाम, अभिमान, मद आदि जीव के परिणाम होते हैं, वैसे ही सुन्दर असुन्दर, काला गोरा आदि छोटा बोना कूबड़ा, दुबला मोटा आदि किसी की नाक छोटी हो या किसीके कान बड़े, हाथ बड़े छोटे आदि यह सब कार्य यह कर्म कराता है। शरीर की रचना में यही कर्म है, शुभ कर्मों से शुभ शरीर जो सब को अच्छा लगे आदि ऐसा बनाता है। पाप कर्मों से अशुभ शरीर का निर्माण करता है।

गोत्र कर्म का स्वरूप।

८. गोत्र कर्म—यह आत्मा के परिणामों को अच्छा होने योग्य साधनों में उत्पन्न करादे या बुरे होने योग्य अयोग्य साधनों में उत्पन्न करादे। यह भी शुभ अशुभ परिणामों के अनुसार फल देता है।

कर्मों के उत्तरोत्तर भेद।

उपरोक्त प्रकार के मोटे रूप से ८ कर्मों के भेद (class) किये जाते हैं। और इनके उत्तर भेद १४८ होते हैं, फिर इनकी स्थिति, अनुभाग (शक्ति) की अपेक्षा करने से यानी समय २ प्रति परिणामों की कमी बेशी के अनुसार १४८ की स्थिति और अनुभाग समय २ प्रति अन्तर लेकर होंगे तो इनका भेद करनेसे असंख्य प्रकारके कर्म हो जाते हैं। जैसे काला पीला हरा गुलाबी

इन ४ रंगों को ही लीजिये और अलग २ एक २ छटांक पानी की कटोरियां करीब ५०० रख लीजिये और उन रंगों में से १-१ रत्ती रंग ४ में डालो फिर दूसरी में १ रत्ती काला २ रत्ती पीला फिर तीसरी में १ रत्ती पीला २ रत्ती काला, चौथी में १ रत्ती काला और २ रत्ती पीला १ र० हरा, फिर पांचवें में काला$_{१}$ पीला$_{२}$ हरा$_{१}$ गुलाबी$_{१}$ फिर काला$_{१}$ पीला$_{१}$ हरा$_{१}$ गुलाबी$_{१}$, काला$_{२}$ पीला$_{२}$ हरा$_{२}$ गुलाबी$_{२}$, फिर काला$_{२}$ पीला$_{१}$ हरा$_{२}$ गुलाबी$_{२}$ इसी प्रकार इन चार रंगों को १ रत्ती से लेकर ५ रत्ती तक आपस में मिश्रण अलग २ प्रकारको लेकर करने से ही सैंकड़ों की तादाद में रंग बन जांयगे जिसमें १ रत्ती का नाप बहुत मोटा इसके छोटे से छोटे नाप से लेकर ऊपर मनों तक की तादाद लेकर छोटे से छोटे नाप के मिश्रण करने से तो असंख्यात की तादाद में रंग बन जावेंगे।

इन कर्मों के १४८ भेद को लेकर आपस में समय २ प्रति परिणामों के मन्दता, तीव्रता को लेकर बनने वाले कर्म कितनी संख्या धारण करेंगे, इसका हम अन्दाज ही लगा सकते हैं। या साक्षात् समय २ प्रति होने वाले आत्मा के परिणामों को देख कर पूर्ण निश्चय कर सकते हैं। इससे यह निर्णय हुआ कि हमारी निराकुलरूप सुखी रहने की इच्छा होते हुये भी उसको प्राप्त न होने देनेवाले, कर्म हैं। जो हमारी इच्छा के विरुद्ध भी हमको आकुलित दुःखी करते रहते हैं। इसलिये जब तक हम इन कर्मों को जड़ मूल से नष्ट नहीं कर देंगे तब तक पूर्ण सुखी नहीं हो

सकते हैं। इसलिये हमको इन कर्मों का नाश करना होगा, जो भी क्रिया इन कर्मों का नाश करने में सहकारी होगी वही धर्म कहला सकती ह।

अब हमने और सब बातों का निर्णय कर लिया कि जीव कौन हैं, संसार के दुःख क्या हैं? कर्म क्या है? लेकिन इन सब का मुख्य सार भूत वह पदार्थ जानना शेष रहा, जो इस जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाकर, कर्मों के बन्धन को नष्ट करके उत्तम सुख में पहुंचा देवे। इस क्रिया को ही धर्म कहते हैं जिसके जानने के लिये इतनी लम्बी परिभाषा की गई है। इस लिये हमको उस क्रिया को जानना है, जिसको हम धर्म कहेंगे। तो सब से प्रथम संसार के दुःख देखना है कि संसार में आकुलता ही दुख है और निराकुलता आत्माका स्वभाव है और वही सुख है।

यह तो निश्चय हो चुका है कि आकुलता उत्पन्न नहीं हो तो आत्मा, अपने सुख में अनन्त काल तक सुखी रह सकता है चूंकि निराकुलता इसका स्वभाव है, इसलिये आकुलताओं को पैदा न होने देनेवाली क्रिया का ही नाम धर्म होगा।

धर्म और अधर्म क्या है?

आकुलता राग द्वेष रूप ही है इसलिये राग द्वेष ही दुखका मूल है। अतः यह निर्णीत हुआ कि वह कोई भी क्रिया हो, जिस क्रिया का ध्येय राग और द्वेष का अभाव करना है, वही क्रिया धर्म है। अब इस धर्म को कहीं भी ढूंढ लीजिये, किसी भी

मत, किसी भी दर्शन में चले जाइये, जिस क्रिया का भी ध्येय सम्पूर्णतया राग द्वेष का अभाव हो, वह तो धर्म है। और जिसका ध्येय या जिस क्रिया के करने से राग द्वेष की वृद्धि हो वही क्रिया अधर्म है।

तीन प्रश्न ?

अब हम क्रिया या धर्म को समझने के लिये निम्नलिखित ३ प्रश्नों का विवेचन कर करेंगे तभी हम सच्चे धर्म को समझ सकेंगे।

१. राग-द्वेष क्या है ?

२. राग-द्वेष किस प्रकार नष्ट किये जा सकते हैं ?

३. जिन कार्यों को सर्व साधारण धर्म कहते हैं, वे वस्तुतः क्या हैं ?

राग-द्वेष का वर्णन।

१. राग-द्वेष क्या है ? इनका खुलासा पीछे किया जा चुका है फिर भी साधारणतः राग-द्वेष शब्दके अर्थ है राग अर्थात् मोह, किसी वस्तुमें मोह करना, अच्छा मानना, इष्ट मानना अच्छा लगना आदि यानी किसी वस्तुमें अच्छा लगने रूप बुद्धिका होना, राग भाव कहलाता है। उसी प्रकार किसी वस्तुका बुरा लगना, अनिष्ट मानना द्वेष कहलाता है। जैसे गर्मी में ठंडी हवा अच्छी लगती है, तो अच्छी लगने रूप आत्म परिणामों में अनुभव होना, विकल्प होना, आकुलता होना, उस अनुभव का नाम उस सुखरूप आ-

कुलता का नाम ही तो राग है। गरम हवा बुरी लगती है तो उसका बुरा लगने रूप आत्म परिणामों में अनुभव होगा, विकल्प होगा, आकुलता होना इस दुःखरूप आकुलता अनुभव का नाम ही द्वेष भाव है। मोटे रूप से इस राग को संसारिक सुखरूप अनुभव तथा द्वेष को दुःखरूप अनुभव भी कहा जाय तो ठीक होगा।

संसार के सब जीवों में दो ही प्रकार के सुखरूप तथा दुख रूप अच्छा लगनेरूप तथा बुरा लगने रूप ही परिणाम पाये जाते हैं। सारे संसार के समस्त जीवोंको देख डालिये, सबको ही इन दो प्रकार के अनुभव के सिवाय और कोई प्रकार का अनुभव पाया नहीं जाता है। यहां कोई शङ्का करे कि आत्मा अनेक कषायों का भी अनुभव करता है। जैसे क्रोध, मान, माया (छल कपट) लोभ, हास्य, रति (अच्छा लगना) अरति (बुरा लगना) शोक भय जुगुप्सा (घृणा) पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसकवेद, पांचों इन्द्रिय के सेवन रूप आदि भावों का अनुभव करता है। इसका उत्तर यही है कि इन सबको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, यानी सब राग और द्वेष में गर्भित हो जाते हैं। जैसे—

राग भाव (सुख रूप अच्छे लगने रूप भाव में)।

माया, लोभ, हास्य, रति, भय, पुरुषवेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद पांचों इन्द्रियों के विषय सेवन आदि के भाव।

द्वेष भाव (दुःखरूप बुरे लगने रूप भाव) में

क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा आदि भाव।

उपरोक्त प्रकार से जितने भी परिणाम होंगे वे सब इन दो ही भागों में बट जावेंगे इससे निर्णय करना होगा कि संसार भर के जीव मात्र के दो ही प्रकार के परिणाम पाये जाते हैं। और दोनों ही परिणाम आकुलता रूप हैं। सुखरूप परिणाम और दुख रूप भी परिणाम आकुलतायुक्त हैं। इसलिये जिसको भी आकुलता का अभाव करना होगा उसको इन आकुलता के कारणरूप इन दोनों प्रकार के परिणामों को मिटाना ही होगा।

राग-द्वेष दोनों के कारण क्या हैं ?

अब दोनों प्रकारके परिणाम कैसे मिटाये जा सकते हैं, उन कारणों को भी ढूंढना होगा। क्योंकि अगर बीज को ही नष्ट कर दिया जावे तो पेड़ उगे ही नहीं, इसलिये अब यह समझना है कि आत्मा विकारी और रागी द्वेषी क्यों होता है। जब सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो पता लगेगा कि संसार भर में सुख रूप और दुखरूप अनुभव मोटेरूप से इस शरीर संबन्धी पदार्थों को ही लेकर हुवा करता है। जैसे धन मिल जानेसे हर्ष, मरण पर शोक क्षुधा पर दुख, मिटने पर सुख, इन्द्रियों के विषय न मिलने पर दुख, पाने पर सुख, इच्छित सामग्री न मिलने दुख, मिल जाने पर सुख आदि। इसलिये संसार में दुख और सुख, राग और द्वेष इस शरीर और शरीर सम्बन्धी पदार्थों के ही कारण होता है। लेकिन यहां यह शङ्का उठती है कि यह बाह्य वस्तुओं का संबंध पूर्व कर्मके उदय से मिला है वह कैसे मिटाया जा सकता है?

तो जब इनको नहीं मिटाया जा सकता तो राग द्वेष भी नहीं मिट सकेंगे। लेकिन ऐसा नहीं है। इनका संबन्ध रहते हुये भी सुख दुख का कारण तो इन बाह्य पदार्थों में अपनेपन की बुद्धि है। इसका कारण मात्र बाह्य पदार्थ ही नहीं है, जैसे पुत्रको अपना मान रखा है तभी उसके सुख दुख में अपने ही जैसा आभास होता है, जैसे कल्पना कर लीजिये किसी के पुत्र नहीं था, तो उसने पुत्र को गोद (दत्तक) लेने का विचार किया। उस विचार किये लड़के को गोद लेने से पहले बुखार आ जाता है, निमोनिया हो जाता है तो उसको कितना दुख होता है, और जब उस पुत्र को गोद ले लेता है तब कहीं बुखार या निमोनिया हो जाता है तब उसको कितना दुख होता है? इसका सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरा उदाहरण लीजिये जैसे किसी के घर का मकान है उसमें कोई किरायादार रहता है। उस मकान को बेचने का इरादा किया तथा तय भी होगया लेकिन लिखा पढ़ी होकर के रुपया नहीं आया, बयनामें पर हस्ताक्षर नहीं हुये, तब तक कोई किरायादार उसमें कोई कील भी ठोकता है या निकालता है तो वह उससे लड़नेके लिये तय्यार हो जाता है। जिस समय बयनामे पर हस्ताक्षर होकर रुपया पालेता है उसी समय से वही मनुष्य दूसरों से तो कहना दूर रहा, अपनी १ कील भी नहीं छोड़ता, सब उखाड़ २ कर ले जाता है। चाहे मकान बुरा लगने

लग जाये उसकी उसे परवाह नहीं होती है, इसका क्या कारण है ? वही पुत्र था, उसी के लिये एक समय दुःख होता था, एक समय नहीं। वही मकान था, एक समय दुःख होता था,एक समय नहीं। इसका कारण ढूंढते हैं तो सहज ही मालुम होजाता है कि उसमें मात्र अपनापन रहा तब तक ही दुःख होता है। जहां जिस समय अपना पन दूर हुआ दुःख नहीं होता है। इसलिये यह मानना होगा कि बाह्य वस्तुओं में सुख दुखका कारण नहीं है मात्र उनमें अपना पन जो है वही सुख और दुख का कारण है।

राग द्वेष छोड़ने का उपाय

अब अपना पन कैसे दूर होवे यह विचारना है तो पहले यह सोचना है कि उपरोक्त पुत्र में अपना पन किस बात का था कि यह मेरा पुत्र है मेरा कौन इस शरीर का संबंधी है ? तथा यही मकान के बारे में कि यह मकान मेरा है। मेरा किस का ? शरीर का। इसलिये इस शरीर को मैं माना तब इन वस्तुओं में मेरा पन आया। संसार के सभी पदार्थों में मेरा पन आया है वह इस शरीर के स्वार्थ वश ही तो है।

जैसे मानलो एक देवदत्त नामका मनुष्य है उसके स्त्री पुत्र भाई बहन माता पिता धन जायदाद सब है, उस मनुष्यके शरीरका चमड़ा उतार कर उसी देवदत्त को खड़ा कर दो तो स्त्री कहती है यह मेरा पति नहीं है, पुत्र कहता है मेरा पिता नहीं है इसी प्रकार अन्य संबन्धी भी यही कहेंगे कि यह देवदत्त नहीं है।

और हमारा संबंधी तथा धन जायदाद का मालिक देवदत्त था। इसलिये यह मनुष्य इन सबका मालिक नहीं है। कहिये, क्या हुआ? मनुष्य तो वही था, परन्तु उसके सम्बन्ध खतम हो गये इससे मानना होगा जो कुछ भी हमारे सम्बन्ध हैं वह सब इस चमड़ी के बने हुये आकार से ही है, जहां यह आकार खतम हुआ तो सम्बन्ध भी खतम हो जाता है।

शरीर के स्वरूप का चिन्तवन

अब यहां यह निर्णय आवश्यक हो गया कि यह शरीर भी हमारा है या नहीं है? विचार करिये कि अगर यह शरीर मेरा ही है तो मैं तो अविनाशी चैतन्य रूप हूं लेकिन यह शरीर तो नाशवान है और अचेतन है। मेरा अस्तित्व संसार से नष्ट नहीं हो सकता, इस शरीर का अस्तित्व एक ही पर्याय में साक्षात् नष्ट होता देखते हैं। इस शरीर में मेरा आत्मा तो निकल कर चला जाताहै और यह शरीर तो यहां ही पड़ा रह जाता है,जिसको जला कर मिट्टी में मिला दिया जाता है। इन सब को देखकर यह निर्णय होता है कि यह शरीर किसी प्रकार भी मेरा नहीं है। मृत्यु के समय जो भी निकलकर जाता है वही मैं हूं। कारण जो चीज निकल गई है उसका अस्तित्व संसार में मौजूद है, तभी तो निकल कर गई है। लेकिन आत्मा शरीर से निकल गई तो शरीरका अन्त होगया। लेकिन जो निकल गई है उसका अस्तित्व तो मौजूद है। यह साक्षात् देखने में भी आता है।

इसलिये जो शरीर के नाश होने पर भी मौजूद रह गया है, वही हमारा है। या जो शरीर नष्ट होगया है वह हमारा नहीं है, इसलिये यह विचार करके अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों को भिन्न मानना ही सच्ची मान्यता है।

आत्मा की सच्ची रक्षा।

जब इस प्रकार की मान्यता हो जाती है तो संसार के बाह्य पदार्थोंमें अपनापन हट जाता है। अपनेपन का भाव हट जानाही राग द्वेष के नष्ट होने का कारण है। इसलिये सारांश यही हुआ कि आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थों के सम्बन्ध शरीर सहित मेरे नहीं हैं। मेरी तो मात्र आत्मा ही है इसलिये संसार के सब पदार्थ तो जहांके तहां ज्यों के त्यों ही रहेंगे उनका हेर फेर करना अपने आधीन नहीं है। लेकिन उनमें से अपनेपन की मान्यता निकाल लेना है। जिससे राग-द्वेष नष्ट हो जावे। संसार का साधारण नियम है कि सब अपनी वस्तु की रक्षा करते हैं। जब आत्मा में अपनापन आगया तो उसकी रक्षा करनी ही होगी। आत्मा की रक्षा राग-द्वेष पैदा न होना ही है। इसलिये धर्म वही है कि संसार में राग-द्वेष नहीं करना, मात्र तटस्थ रहना।

संसारी लोगों की धर्म की मान्यता।

अब यहां एक प्रश्न रह गया कि अगर मात्र राग-द्वेष का नहीं होने देना ही धर्म है तो संसार में जिनको धर्म के नाम पर साधन किया जाता है, ग्रहण किया जाता है वह सब क्या है?

उसके लिये पहले यह देखना है कि कौन २ बातों में धर्म माना जाता है।

१. देव उपासना।

२. भगवान के उपदेशों का पठन-पाठन, मनन आदि।

३. उनके उपदेशों पर चलनेवालों का यथायोग्य आदर।

४. संसार के परिग्रह धन दौलत मकान जायदाद आदि का त्याग करना।

५. कुटुम्ब स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता आदि को छोड़ कर गृहस्थी का त्याग करना।

६. संसार में अच्छे लगने योग्य भोग्य पदार्थों का त्याग करना।

७. परोपकार की भावना।

८. अनेक प्रकार के कठोर तप करना इत्यादि।

इन कार्यों को तथा इन से मिलते जुलते कार्यों को हरएक मतावलम्बी धर्म मानता है। जैसे मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि संसार में जितने धर्म तथा मत या दर्शन हैं, सभी उपरोक्त कार्यों में धर्म मानते हैं। इसलिये इस रहस्य को समझना है कि इनका सामंजस्य किस प्रकार बनेगा?

राग-द्वेषमयी धार्मिक क्रिया धर्म नहीं है।

जैसे किसी मकान के ऊपरी भाग में पहुंचने के लिये सीढ़ियों का अवलम्बन लेना आवश्यक है, लेकिन जो केवल

सीढ़ियों को ही पकड़ कर बैठ जाय और ऊपर पहुँचने के ध्येय को भुलादे तो वह कदापि ऊपर नहीं पहुंच सकता। इसी प्रकार राग-द्वेष रहित धर्म को प्राप्त करने का जिसका ध्येय है उसे धर्म प्राप्त करानेमें आलम्बन स्वरूप देव पूजनादिक क्रियाओं को करना आवश्यक है लेकिन मात्र उनको ही पकड़ कर बैठ जाने से धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। अतः सर्वप्रथम हमें इन क्रियाओं के करनेके उद्देश्य पर विचार कर लेना चाहिये।

देव पूजा पर विचार।

उपरोक्त क्रियायें ही अगर उन सब का ध्येय राग-द्वेष नष्ट कर देने का नहीं है तथा बढाने का है तो क्रियायें अधर्म ही कहलावेंगी। इसलिये यह तो निश्चय हो गया कि उपरोक्त सब क्रियायें धर्म तो हो सकती हैं, लेकिन अब उसमें यह निश्चय करना है कि वह सब किस प्रकार राग-द्वेष दूर करनेवाली होगी ? सब से पहले देव उपासना ही ले लीजिये, तो जितने मत-मतान्तर हैं वे सब इसी देव पूजा के पीछे ही दीखते हैं। वरना सब ही मत इस बातमें जरूर एक मत होंगे, कि सब धर्मोंका ध्येय, राग(मोह)द्वेषको दूर करना ही है। इसलिये हमारा अनैक्यपना है तो मात्र इन देव पूजा आदि में ही आता है। जैसे जैन लोग तो अरहंत की पूजा करते हैं, तो शैव महादेवजी की, वैष्णव विष्णु भगवान की, ईसाई ईसा मसीह की, मुसलमान अपने पैगम्बरों की आदि २ सभी अपनी मान्यताओं को सच्ची मानते हैं।

हमें यहां किसी के बारे में किसी प्रकार आक्षेप नहीं करना है। परन्तु वस्तुस्वरूप का निर्णय अवश्य करना है। हमको वही अपना सिद्धान्त राग द्वेष का अभाव सब के ऊपर घटित करके देखना होगा, कारण बहुत सरल है कि अगर आप किसी दुराचारी के घर पर जावे, और वहां अनेक प्रकार कुत्सित चित्रों को देखें, और उनके प्रभाव को विचारें तो उनके देखने मात्र से ही अपने हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा ? किन्हीं भी अंशों में हमारे हृदय पर उसका दुराचार जनित प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकेगा। इसी प्रकार मान लीजिये किसी सदाचारी मनुष्य के यहां जावें और वहां उत्तम २ महान् आत्माओं के चित्रों को देखें तो आपके हृदय पर किसीभी अंशका किसी समयके लिये अवश्य अच्छा प्रभाव अंकित होगा। जब थोड़ी देर देखने मात्र से ही आत्मा पर उसके हाव भाव का प्रभाव पड़ता है तो जिस मूर्ति की उपासना करेंगे उस मूर्ती का प्रभाव, जैसी वह मूर्ती होगी, जो उस मूर्तिमान् आत्मा में गुण होंगे उनका प्रभाव हमारी आत्मा पर अवश्य पड़ेगा, क्योंकि मूर्तिमान आत्मा ही हमारा उपास्यदेव बना हुआ है। इसलिये ध्येय के अनुसार ही हमको प्राप्ति हो सकती है। इसलिये हमारा उपास्यदेव; जिसकी मूर्ति हमने बनाई है वह रागी-द्वेषी है तो हम स्वयं उसकी उपासना करने पर वीत-रागी (राग-द्वेष रहित) नहीं बन सकते हैं।

और हमारा उपास्यदेव (वीतरागी) राग-द्वेष रहित वाला है, जिसके समक्ष, उसकी निन्दा करने वाला, उसकी पूजा करनेवाला,

उसको मारनेवाला अथवा उसको बचाने वाला सब समान हो वही वीतरागी कहला सकता है। और सच्चे धर्म उपासक का यही उपास्यदेव हो सकता है। जो अपने भक्तों की रक्षा करे और अपने निन्दकों तथा विरोधियों का संहार करे, जिसकी दृष्टि में विरोधी और भक्तों के प्रति दो प्रकार के भाव हों तथा ऐकेन्द्रिय वनस्पति आदि में रहने वाले जीव की आत्मा में तथा पंचेन्द्री मनुष्य की आत्मा में अन्तर देखता हो वह कभी वीतरागी अर्थात् वह कभी राग-द्वेष रहित नहीं कहला सकता है।

सच्चे देव की परिभाषा।

जिसको जीवमात्र में अपने जैसा आत्मा ही दीखता हो वह किसी के प्रति राग किसी के प्रति द्वेष कैसे कर सकेगा ? इसलिये सच्चे धर्म का उपासक का देव ऐसा नहीं हो सकता। सच्चा देव वही कहलावेगा जो रागी द्वेषी न हो तथा जिसकी इच्छाओं का अभाव होगया हो यानी वह पूर्ण हो। यह पूर्णता तभी सम्भव हो सकती है जब सब पदार्थों को जान चुका हो तभी इच्छायें भी नहीं उठ सकतीं कारण जो जिस वस्तु को जान चुका है वह क्या इच्छा करेगा ? इसलिये जो अपने ज्ञान के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों को जाननेवाला हो वही पूर्ण हो सकता है। तथा वही उपास्यदेव है। जो समस्त संसार के संपूर्ण जीवों को एकसा देखता है तथा सबको किसी प्रकारका भेदभाव किये बिना कल्याण कर उपदेश देता है, वही सच्चा देव है। कहा है कि—

"जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया ।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥
बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो ।
भक्ति भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसीमें लीन रहो ॥"

उपरोक्त गुणों वाला देव ही सच्चा देव कहला सकता है और उसी की उपासना में हमको सच्चे धर्म की प्राप्ति हो सकती है। अब सब उपास्य देवोंके मतों पर उपरोक्त गुणों की समीक्षा कर लीजिये और वीतरागी देव चाहे वह किसी भी धर्म में क्यों न हो वही उपास्य देव कहा जा सकता है। उन्हीं की हमको उपासना करना चाहिये। जैसे मकान के ऊपरी भाग पर पहुंचने के लिये सीढी आवश्यक है वैसे ही साधना के लिये उपास्यदेव की आवश्यकता है। मकान के ऊपरी भाग में पहुंचने के बाद सीढी की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार साधना सफल हो जाने पर उपास्यदेव की आवश्यकता नहीं रहती है। जो अभी राग द्वेष से निवृत्त नहीं हो पाये हैं तथा जो साधक अवस्था में, आंशिक वीतरागी होकर भी रागी द्वेषी अवस्था में हैं, उनको उपासना आदि सीढियों की आवश्यकता बनी रहती है। अब यहां इतना और समझ लेना है कि हम भारतवासियों की उपासना वर्त्तमान में मात्र द्रव्य उपासना रह गई है वास्तव में जो उपासना का ध्येय था वह हम लोग भूल गये। गुण पूजा को छोड़कर मात्र मूर्तिपूजक रह गये हैं।

मूर्तिपूजा का वास्तविक ध्येय।

हमारी आत्मा का ध्येय तो था कि उस "आत्मा के गुणों का स्मरण करना। इसीलिये मूर्ति की स्थापना अर्थात् उस आत्मा के शरीर की मूर्ती बनाकर उसमें उस आत्मा की स्थापना करके उसके गुणों को उसके आधार से बार २ स्मरण करें व उस मूर्ती क आश्रय से उसके गुणों की उपासना करें, लेकिन यह ध्येय हटकर अब मात्र हम उस मूर्ती (पत्थर की मूर्ति) मात्र के पूजक रह गये हैं। गुण आदि को देखनेकी दृष्टि हमारी हट गई है। इसी का यह फल ह कि हम नित्य प्रति देव उपासना करते हुये भी अभी तक स्वयं देव नहीं बन सके। उस देव का एक गुण भी तथा उसके गुणों का अंश भी मात्र हमारे हृदयमें जाग्रत नहीं हुआ। उसका एक मात्र कारण यही है कि हमने कभी देव गुणों की उपासना नहीं की, इसीलिये गुणों को प्राप्त नहीं कर पाये। और उसका फल यह हुवा कि दिन पर दिन देव उपासना से आस्था हटती जाती है। इसलिये मात्र मूर्ति पूजा ही धर्म नहीं कहला सकती। अतः मूर्तिके आधारसे गुणोंकी पूजा और उपासना ही धर्म है। क्योंकि वही राग-द्वेष निवृत्तिमें कारण है अतएव हमारा कर्त्तव्य है कि उपरोक्त गुणों वाले देव की चाहे वह कोई भी हो, उसके गुणों की उपासना करना चाहिये।

कौनसा धर्मोपदेश ग्रहण करने योग्य है ?

भगवान् द्वारा कहे गये उपदेशों का पठन-पाठन तथा मनन करना भी धर्म कहा जाता है। इसके बारे में भी ऊपर लिखे

अनुसार मुख्य ध्येय राग द्वेष नष्ट करने का ध्यान में रख लेना चाहिये। जिन उपदेशों से राग द्वेष भाव नष्ट हो, वीतराग भाव उत्पन्न हो,वे सब उपदेश पठन-पाठन, मनन करने योग्य हैं। जब हमको वीतरागी बनना है तो वीतराग बनाने वाला ही साहित्य पठन-पाठन व मनन करना होगा। राग-द्वेष बढ़ानेवाला साहित्य हमारे लिये अयोग्य है। और उसका पठन पाठन हमारे लिये अधर्म ही होगा। जैसे किसी को वकील बनना है तो उसको कानूनी पुस्तकें पढ़ना चाहिये। जिसको डाक्टर बनना है उसको चिकित्सा संबन्धी साहित्य ही काम आ सकेगा। कानूनी पुस्तकों का साहित्य डाक्टर को अयोग्य है।

कानून के साहित्य का निर्माण ऊँचे से ऊँची शिक्षा पाया हुआ डाक्टर नहीं कर सकता तथा डाक्टरी के साहित्यका निर्माण ऊँचे से ऊँचा कानूनी पंडित नहीं कर सकता है। साथ ही में साहित्य निर्माण करने वाला व्यक्ति निष्णात होना आवश्यकीय है नहीं तो सच्चे साहित्य का निर्माण नहीं हो सकेगा। इसलिये जिसे वीतरागी बनना है उसको वीतरागी बनानेवाला ही साहित्य का आश्रय लेना होगा। और वह वीतरागी साहित्य, वीतरागी के द्वारा ही प्रतिपादित होना चाहिये। रागी पुरुष वीतरागी साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता है और न सरागी पुरुष के बनाये साहित्य से कोई वीतरागता प्राप्त कर सकता है। अतः वीतरागी बनने के लिये वीतराग द्वारा प्रतिपादित साहित्य का पठन-पाठन करना, मनन करना धर्म है।

पठन-पाठन योग्य साहित्य ।

वास्तव में अगर विचार किया जावे तो साहित्य का अध्ययन ही इस समय परम आवश्यक है । कारण किसी भी बात की जानकारी साहित्य अध्ययन से ही हो सकती है । और जो जानकार हैं उनकी भी स्थिरता तथा उस विषय का परिमार्जन साहित्य के अध्ययन से ही हो सकता है । यह हम साधारणतः अनुभव भी कर सकते हैं कि हम जिस साहित्य को पढ़ते हैं हमारे हृदय पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है । और बराबर अध्ययन करते रहेंगे तो अध्ययन किये विषय में हम पारंगत भी हो जायेंगे । इस लिये वीतरागी साहित्य का अध्ययन करना परम आवश्यक धर्म है । लेकिन वह साहित्य वीतराग सर्वज्ञ द्वारा अथवा उनकी परम्परा के साधक जिनका वीतराग साधन ही ध्येय रहा हो ऐसे महापुरुषों का बनाया हुवा हो, और स्वयं वीतरागता के मार्गका द्योतक हो ।

धार्मिक जीवों के प्रति आदर बुद्धि रक्खो ।

तीसरा विषय है उनके उपदेशों पर चलने वालों का यथा योग्य आदर करना—यह विषय ऊपर काफी स्पष्ट हो चुका है । अपना ध्येय वीतरागता को सामने रखते हुये ऐसा असम्भव है कि वीतराग गुण के प्राप्त करने के मार्ग में चलने वालों के प्रति आदर न हो । लेकिन साथ में यह भी निश्चित है कि जिनका ध्येय वीतरागता प्राप्त करने का न हो अथवा सरागता तक ही सीमित हो, उनके प्रति आदरभाव धर्मात्मा को कदापि नहीं हो सकता ।

धर्मात्मा तो अपने धर्म (वीतरागता) को स्थिर रखने के लिये पुरुषार्थ पूर्वक वीतराग मार्ग के पथिकों की सेवा और संग के लिये लालायित रहता है। क्योंकि स्वयं की वीतराग भाव में स्थिरता रखने के लिये ऐसी संगति परमावश्यक है। दूसरे यह बात असम्भव है कि जिसको जिन गुणों के प्रति आदर हो उन गुणों को धारण करने वाले के प्रति आदर नहीं हो। जो गुणवानों का आदर नहीं करता है समझलो कि उसको उन गुणों के प्रति भी आदर नहीं है। अतः जो वीतरागी मार्ग के अनुगामी साधु अथवा गृहस्थ हों उनके प्रति भी यथायोग्य आदर होना धर्म ही है।

दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ो।

चौथा विषय है कि संसार में अचेतन परिग्रह धन दौलत मकान जायदाद आदि तथा चेतन परिग्रह स्त्री, पुत्र, मित्र माता पिता भाई बहिन आदि तथा विषय भोग इन्द्रिय और मनको सुख कर लगने वाले भोग्य पदार्थ। उपरोक्त दोनों प्रकार के परिग्रहों को त्याग करनेका उपदेश हर धर्म देता है। अतः इनका त्याग करना भी धर्म होना चाहिये। उपरोक्त दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग वीतरागता प्राप्त करने के उद्देश्य को लेकर किया गया हो तो सच्चा धर्म है।

कारण, उपरोक्त दोनों प्रकार के परिग्रह ही संसार में मुख्यता से राग द्वेष मूलक होते हैं। इसके ऊपर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। तथा अनुभव गोचर भी है कि संसार में राग द्वेष भाव

या तो अचेतन परिग्रह के लिये हैं या चेतन परिग्रह के लिये। और वे सब हालां कि राग द्वेष करने वाला स्वतन्त्र आत्मा ही है, बाह्य परिग्रह बलात् राग द्वेष नहीं उत्पन्न कर देते। लेकिन आत्मा स्वयं जब निर्बल होता है तो इनके निमित्त को लेकर स्वयं राग द्वेष करने लगता है। अगर यह आत्मा स्वयं तीव्र पुरुषार्थ करे, अपनी निर्बलता से प्रभावित न हो तो उन परिग्रहों के रहते हुए भी किसी सीमा तक राग-द्वेष से परे रह सकता है, लेकिन ऐसी कोई विरली ही आत्मा होती है। अतः इससे यह मुख्य उद्देश्य ध्वनित होता है कि यहां राग-द्वेष का त्याग ही मूल ध्येय है। इन चेतन अचेतन परिग्रह तथा विषय भोगों का त्याग मूल ध्येय वीतराग भाव में स्थिर रहने के लिये आवश्यक है। साधारणतः हमारा आत्मा हर समय इतना पुरुषार्थी नहीं रह पाता कि इन परिग्रहों के बीच भी वीतरागी रह सके। इसलिये जहां भी निर्बलता आई बाह्य निमित्त राग द्वेष के उपस्थित रहने से फौरन आत्मा रागी-द्वेषी बन जाता है। जैसे किसी गृहस्थके मनमें काम वासना नहीं होने पर भी एकान्त में स्त्री मिलाप काम वासना उत्पन्न करनेका कारण हो जाता है। इसलिये जिसको काम वासना से बचना हो उसे एकान्त में स्त्री से नहीं मिलना चाहिये। इसका त्याग करे बिना वह कामवासना से बच नहीं सकता है।

सच्चे त्याग का स्वरूप।

उसी प्रकार बाह्य निमित्त रागी-द्वेषी होने के योग्य (चेतन अचेतन परिग्रह तथा विषय भोगों की सामग्री) उपस्थित न हो

और आत्मा का ध्येय वीतराग होने का वर्तमान हो तो निर्बलता आने पर भी रागी द्वेषी होने के विचार मे बचा रह सकता है। इस उद्देश्य की सफलता में बाधक होने के कारण उपरोक्त तीनों बातों का त्याग करना भी धर्म है। इसमें यह और खास ध्यान देने की बात है कि अगर किसी ने उपरोक्त तीनों बातों का मोटे रूप से त्याग कर दिया हो लेकिन उद्देश्य राग द्वेष से रहित होने का न हो तो उसका त्याग सच्चा धर्म नहीं है।

कोई पुरुष मोटे रूप से अचेतन धन जायदाद का त्याग करके उसके बदले में धर्म के नाम पर मठ मन्दिर क्षेत्र आदि के नाम पर लाखों रुपयों की सम्पत्ति इकट्ठी कर लेते हैं। चेतन परिग्रह स्त्री पुत्र आदि का त्याग करके उसके ब.ले में चेला चेली संघ आदि कुटुम्ब स्थापित कर लेते हैं। तथा विषय भोगों का त्याग उनका बाह्य दिखाने मात्र का होता है, अंतरंग में लालसा घटती नहीं है। जैसे उपवास धारण किया तो दिनका भोजन त्याग करके रात्रि में भोजन करना, आसानी से प्राप्त होने वाले अन्नाहार को छोड़कर फलाहार करना. धमके नाम पर मठाधीश, गुसांई आदि का पद धारण करना आदि सच्चा त्याग नहीं है।

रस परित्याग धारणकर एक रस तो छोड़ना लेकिन उसके बदले अनेक कठिन उपायोंसे उस विषय को पोषण करना आदि कार्य धर्म के नाम पर धर्म समझ कर करता है लेकिन धर्म कहां रहा? धर्म तो वीतराग है उस का नामो निशान भी नहीं दीखता है। इसलिये उपरोक्त चेतन अचेतन परिग्रह का त्याग, विषय भोग

का त्याग वीतरागता के उद्देश्य को लेकर होगा वही सच्चा धर्म है। वीतरागता प्राप्त कराने का साधन होने से धर्म है। इसके साथ एक बात और समझने की है कि राग-द्वेष भी दो प्रकारके होते हैं। १ अशुभ राग-द्वेष जो पापकर्म हैं तथा संसार में दुःख रूप सामग्री उपस्थित करने का कारण होते हैं। दूसरा शुभ राग-द्वेष जो पुण्य कर्म है तथा संसार में सुखरूप सामग्री प्राप्त कराने के कारण होते हैं। तो यह दोनों ही पूर्ण वीतरागता में तो बाधक ही हैं क्योंकि वीतरागता उसी का नाम है कि जिसमें शुभ हो या अशुभ हो कोई प्रकार का राग द्वेष न हो। तो भी हमको पूर्ण वीतरागता प्राप्त नहीं हो तब तक राग-द्वेष तो होते ही हैं। उस हालत में अशुभ राग-द्वेष से तो अवश्य ही बचना चाहिये। शुभ रागद्वेष तो पूर्णता होने के प्रथम होते ही हैं। लेकिन धर्मात्मा उनको भी छोड़ना चाहता है। और परम वीतरागता चाहता है।

उसका उपरोक्त चेतन, अचेतन, विषय, भोग संबन्धी परिग्रह को छोड़ना धर्म प्राप्त होने का साधन होने से धर्म ही है। यहां कोई शङ्का करे कि जिसका ध्येय तो वीतरागता का है नहीं, लेकिन बाह्य त्याग किया है तो उसकी क्रिया का कुछ भी फल होगा या नहीं? उसका समाधान ऐसा है कि उतने ही त्याग से वीतरागता का ध्येय होने पर धर्म कहला सकता था, तथा परम्परा से सुख प्राप्त करा सकता था। लेकिन वह ध्येय नहीं होने से वह त्याग जितने अंश में उन वस्तुओं से ममत्व छूटा उतने अंश में शुभ राग है और पुण्य कर्म है, सांसारिक सुख सामग्री प्राप्त कराने

का कारण है। चूंकि उसका ध्येय पूर्ण वीतरागता न होकर मात्र शुभ राग ही रहा इसलिये धर्म न होकर पुण्य ही रहा इसलिये इतना ही लाभ है। अशुभ को त्याग कर शुभ में प्रवृत्ति करने में लाभ ही है। इसलिये उपरोक्त वस्तुओं से वीतरागता का ध्येय बना कर राग मात्र को त्याग करना तथा वीतराग को स्थिर रखने के लिये उन वस्तुओं के संसर्ग मात्र का त्याग करना धर्म है।

परोपकार धर्म कब है ?

पांचवां विषय परोपकार की भावना में भी शुभ राग है वह धर्म कैसे हो ? लेकिन ऊपर कहे अनुसार वीतरागता के ध्येय को लक्ष्य में रख करके परोपकार की भावना धर्म का साधन होने के कारण धर्म है। तथा जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं हो तब तक अशुभ से बचने के लिये शुभ राग करना योग्य है।

कठोर तप धर्म कब कहा जा सकता है।

छठा विषय है कि अनेक प्रकार के कठोर तप करना धर्म है या नहीं है ? इस विषय को भी ऊपर लिखे अनुसार ही समझ लेना चाहिये। मन तथा इन्द्रियों की चञ्चलता ही वीतरागता को स्थिर नहीं होने देती इन्हीं के कारण राग-द्वेष आदि भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिये जिससे इनके चलायमान होने पर राग-द्वेष उत्पन्न न हो सके अनेक प्रकार तप किये जावें, वह धर्म है क्योंकि वीतरागता का साधन है। अगर यही तप वीतरागता का लक्ष्य न

होकर मात्र धर्मके नाम पर शरीर शोषण तथा शरीर व इद्रिय को कष्ट देने की दृष्टि रही तो वह क्रिया धर्म नहीं कहला सकती। लेकिन जितने अंशों में शरीर इन्द्रियों का अशुभ राग भाव हटा, उतने अंश में शुभ राग होने से पुन्य कर्म जरूर होगा जो सांसारिक सुख सामग्री प्राप्त कराने का कारण जरूर हो सकता है। इसलिये वीतराग दृष्टि रखकर तपादि करना धर्म है।

इस प्रकार से हर एक क्रिया जो भी की जावे उसमें ऊपर लिखे अनुसार उसका विचार कर लिया जावे, जो भी राग-द्वेष (क्रोध, अभिमान, छल, कपट, लोभादि) को नष्ट करके निराकुलता राग-द्वेष रहित अवस्था प्राप्त करा देवें वह सब क्रियायें धर्म हैं। इस प्रकार समीचीन धर्म का निरूपण किया गया।

उपरोक्त लेख का सारांश।

१. समीचीन धर्म वही कहला सकता है जो जीव मात्र को संसार के दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त करादे।

२. ऐसा धर्म समाज विशेष का नहीं हो सकता।

३. पेड़ पौधों से लगा कर मनुष्य तक सभी जीव कहलाते हैं।

(३A) संसार के जीव मात्र में मेरे ही समान आत्मा है।

(३B) जिस क्रिया से मुझे दुःख होता है उससे जीव मात्र को भी वैसा ही दुख होता है।

४. जीवमात्र को ही संसारी दुख से छूटना है इसलिये

धर्म जीवमात्र का ही होना चाहिये और उसी को विश्व धर्म कहा जा सकता है।

५. संसार में आकुलता ही दुख है, इच्छा ही आकुलता है।

६. निराकुलता ही सुख है।

७. आत्मा दूसरे पदार्थों से ममत्व भाव करके या द्वेष करके आकुलता को जन्म देता है।

८. अविनाशी आत्मा को भूलकर नाशवान पदार्थों के लिये अपने आप में राग द्वेष पैदा करना, दुखी होना, मूर्खता है।

९. राग-द्वेष मोह भाव ही कर्म बन्ध के कारण हैं।

१०. कर्मबन्ध से ही जीव को संसार में अनेक प्रकार की अवस्थाओं में घूमना पड़ता है।

११. संसार भ्रमण में निराकुलता नहीं आ सकती।

१२. राग-द्वेष का अभाव होनेसे ही कर्मबन्ध का अभाव होगा।

१३. जिसमें राग द्वेष का अभाव हो तथा समस्त विश्व को जानने वाला हो वही सच्चा देव है।

१४. सच्चे देव का उपदेश किया हुआ सच्चा मार्ग ही सच्चा धर्म है।

१५. सच्चे देव के उपदेश के अनुसार मार्ग पर चलने वाले ही सच्चे गुरु हैं।

१६. अपने आत्मा से भिन्न पदार्थों से ममत्व यानी राग द्वेष दूर करने पर ही आकुलता का अभाव होगा।

१७. पर पदार्थों को अपनी इच्छानुकूल परिणमन कराने की चेष्टा ही आकुलता का मूल है।

१८.

देखनेवाले के

अभाव होगा

१९.

२०.

प्राप्त कर

२

होना ही

२

किया है

शांति

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक

ट्रस्ट के अन्तर्गत

श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से

प्रकाशित ग्रन्थ ।

१. नरेश धर्म दर्पण (स्व० आचार्य श्री कुन्थुसागरजी महाराज)

२. भावत्रयफलप्रदर्शी " " "

३. भक्तामर स्तोत्र (सरल भावार्थ सहित)

४. एकीभाव स्तोत्र " "

५. धर्म क्या है ? (कुँवर नेमीचन्दजी पाटनी)

६. अनुभव प्रकाश (पंडित दीपचन्दजी शाह काशलीवाल कृत)

मिलने का पता :—

श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला,

मदनगञ्ज (किशनगढ़)

एम. के. प्रिन्टिंग प्रेस, मदनगंज, किशनगढ़ ।